श्रीमद् गुणभूषणस्वामी विरचित—

श्रावकाचार

प्रथम भाग।

(सम्यक्त्वका विस्तृत वर्णन)

अनुवादक—

पं० नंदनलालजी जैन वैद्य चावलीनिवासी

प्रकाशक—

मूलचंद किसनदास कापड़िया,

मालिक-दिगंबर जैन पुस्तकालय-सूरत।

"दिगंबर जैन" के १७वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति]   वीर सं० २४५१.   [प्रति १२००.

जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

मूल्य रु० ०-१२-०.

प्रस्तावना ।

अधिक ग्रंथोंके पढ़नेसे अथवा अधिक ज्ञान संपादन करनेसे मनुष्य उतना उत्तम नहीं होता जितना कि उज्वल चारित्र धारण करनेसे होता है। जिसका चारित्र आदर्श रूप है वह संसारमें सबसे अधिक नीतिका पालनकर सन्मार्गगामी बन सक्ता है—उसके व्यवहार विवेक पूर्ण और सदाचारपूर्ण होते हैं।

मनुष्यको शिक्षा देनेका मार्ग इस समय साहित्यसे ही होता है। इसलिये मनुष्योंको ऐसा साहित्य पढ़ना चाहिये जिससे मनुष्य सदाचारी, विवेकी और नीतिसंपन्न बने।

बालकोंको बचपनसे उपन्यास (नोविल) आदिकी शिक्षा देनेसे जीवनके उत्तम कार्योंका लोप होजाता है और अगर उनको एकवार भी चारित्र संबन्धी ग्रन्थकी शिक्षा दी जाय तो समस्त जीवन सुधर जाता है। जैन समाजमें भी बहुतसे मनुष्योंका जीवन पश्चिम प्रवाहसे चारित्रविहीन होरहा है। इससे संसारमें सदाचारका मार्ग रुक गया है और पापाचरणोंकी वृद्धि होगई है।

इस ग्रथमें सदाचारके मार्गका विकाश संक्षेपतासे किया गया है। तथा बालक, वृद्ध और अल्पज्ञानियोंको रुचिकर हो इसलिये कथाओंका भी सन्निवेश किया गया है।

संसारमें जितने चारित्रके ग्रथ अधिक प्रचार होंगे उतना ही संसारको अधिक लाभ होगा इस धारणासे ही इस ग्रथकी रचना की गई है।

इस ग्रंथके रचयिता श्रीमद् गुणभूषणस्वामी कौनसे अपने पवित्र जीवनसे इस भूमंडलको किस समय भूषित करते होंगे इसका हमारे पास बिल्कुल साधन नहीं है।

जिस प्रतिसे यह ग्रंथ लिखा है। वह सं० १५२१ के सालकी है। इससे कितने वर्ष पूर्व ये आचार्य हुए इसका प्रमाण हमारे पास नहीं है। अनुमानसे चौदहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही ये हुए हों ऐसा कितने ही कारणोंसे सिद्ध होता है।

ग्रन्थका साहित्य बहुत ही उच्च और प्रासादादि गुणोंसे सांगोपांग परिपूर्ण है। इसलिये आप उस समय विद्वानोंमें सर्वोपरि होंगे इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। इस विषयका यत् किंचित् दिग्दर्शन ग्रथकर्ताने स्याद्वादचूडामणी और गुणभूषण इस शब्दमें व्यंगतासे स्पष्ट वर्णन किया है। आप परम विरक्त और प्रखर विद्वान् थे।

आपने यह श्रावकाचार नेमिदेवके आग्रहसे नेमिदेवके नामसे ही बनाया है। नेमिदेवका वर्णन इस ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे किया है। गुरु अपने शिष्यका ऐसा उच्च वर्णन नहीं कर सक्ता फिर आचार्य और परम संयमी होकर इनने जो कुछ वर्णन किया है वह अतिशयोक्ति रूप नहीं है किन्तु सत्य २ रूप वस्तुस्वरूप ही है। इससे नेमिदेव कोई महान पुण्यावतारी भव्यपुरुष होंगे इसमें संदेह नहीं है।

ग्रंथकारने कितने ग्रन्थ बनाये उसका विशेष कथन इस ग्रन्थमें नहीं किया है अतएव इस विषयमें लाचारीके साथ विराम लेते हैं।

विद्वानगण ग्रन्थकी रचना और उसका विवेचन देखकर भी ग्रन्थकारकी शतमुखसे प्रशंसा करते हैं और करेंगे। हमें आशा है कि समाज भी इससे लाभ लेगी।

इस ग्रंथमें मुझसे अधिक दोष होगये हों या जिनागमके विरुद्ध जो कुछ लिख गया हो उसे सज्जनगण आगमके अनुकूल विचार करें और मुझे भी सूचित करें।

इस ग्रन्थके प्रकाशनका भार जैन समाजमें प्रसिद्ध परम उत्साही श्रीयुक्त सेठ मूलचंद किसनदासजी कापडिया सम्पादक " दिगम्बर जैन " ने स्वीकारकर समाजका उपकार किया है इसलिये मैं आपका आभारी हूं। तथा संपादन कार्यमें पूज्यवर पं० लालारामजी शास्त्री देहलीवालोंने अधिक सहायता प्रदान की है एतदर्थ मैं आपका भी चिर ऋणी हूं।

देहली मगसिर वदी ७ वीर संवत् २४५१ } समाज सेवी—
नन्दनलाल जैन वैद्य।

निवेदन।

विस्तारभयसे इस ग्रन्थके दो भाग किये गये हैं जिसमेंसे यह प्रथम भाग प्रकट किया जाता है और दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकट होगा और " दिगम्बर जैन " के १८ वे वर्ष (वीर सं० २४५१) के ग्राहकोंको भेंट भी दिया जायगा।

प्रकाशक।

ॐ

श्री गुणभूषणस्वामी विरचित-

श्रावकाचार।

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुखसहित, बाह्य और अभ्यंतर अत्यंत पवित्र—समस्त दोषरहित, अनुपम और तीन जगतमें पूज्य श्री जिनेन्द्र भगवानको अतिशय विशुद्ध भावोंसे भक्तिपूर्वक नमस्कारकर गृहस्थोंके सदाचार संक्षेपसे कहता हू।

जिनका विशुद्ध चारित्र साक्षात् सर्वोच्च दशा को प्रकट कररहा है, जिनकी बाह्य और आभ्यंतरवृत्ति क्रोध, मान, माया, लोभ और कामादि विकारोंके नष्ट होनेसे पवित्र होरही है, और जो तीन जगतमें महामान्य हैं ऐसा मैं श्रीमद् गुणभूषणाचार्य गुरुदेवको बारंबार अति विनीतभावसे नमस्कार करता हूं।

जो प्रत्यक्षमें निर्दोष चारित्रकी मूर्ति होनेसे सदाचारकी महिमाको साक्षात्कार करा रहे हैं। और इसीलिये त्रिजगतवंद्य हुए हैं। ऐसे गुरुदेवसे चारित्रका अनुभवात्मक बोध पाकर यह ग्रन्थ प्रकट करता हूं ॥ १ ॥

संसारमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्य अधिक सदाचारी, पवित्र और ज्ञानवान होसक्ता है, अतएव मनुष्य जन्म सबसे

श्रेष्ठ परंतु दुर्लभ है। कदाचित् मनुष्य जन्म पाकर भी यदि सदाचारी न हुए तो मनुष्य जन्म पाना एक प्रकारसे व्यर्थ ही है, अतएव सदाचारी कुलमें जन्म लेना और भी कठिन है। उत्तम कुलमें जन्म लेकर भी विवेकी होना बहुत दुर्लभ है। सब कुछ होने पर भी सद्धर्म-सन्मार्गका अनुयायी होना बहुत ही दुर्लभ है ॥२॥

सद्धर्मको धारणकर यदि कुछ अपना हित नहीं किया, तो उस परम दुर्लभ सद्धर्मसे क्या लाभ? यदि मिथ्यात्व कर्मका प्रबल उदय हो और भले ही उत्तम कुलमें (जैन कुलमें) जन्म धारण कर लिया तो उससे कुछ लाभ न होकर उलटी हानि ही होगी। यदि उत्तम कुलको पाकर सम्यक्त्वसहित सदाचारका पालन किया जाय-अपनी आत्मशक्तिको अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेमें लगाया जाय-आत्मस्वरूप-रत्नत्रयके प्राप्त करनेमें संयोजित किया जाय तो सद्धर्म धारण करनेसे यथार्थमें लाभ होसक्ता है। सदाचारका पालना ही अपने कर्तव्योंका पालना है। और जबतक सदाचार पालन करनेमें असमर्थता है-कायरता है-शक्ति हीनता है, तबतक सद्धर्म धारण करनेसे लाभ नहीं होसक्ता-कर्तव्योंका पालन नहीं होसक्ता-सन्मार्गमें प्रवृत्ति नहीं होसक्ती। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि सम्यक्त्व सहित सदाचारका पालन करना ही सद्धर्मका धारण करना है। इसलिये मनुष्योंका कर्तव्य है कि वे सदाचारको पालन करें, और सम्यक्त्वसहित सन्मार्गके अनुगामी बनें तभी वे आत्महित कर सके हैं ॥ ३ ॥

जिस प्रकार मेघ बिना वृष्टि नहीं होसक्ती ठीक उसी प्रकार धर्मके बिना नर जन्म, और स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती

इतना ही नहीं किंतु उत्तम उत्तम पद और सर्व मनोरथ सिद्ध नहीं हो सक्ते। सद्धर्म धारण करनेसे ही सच्ची दयाका पालना—समस्त जीवोंको आत्म समान जानना- द्यूतादि दुर्व्यसनोंका त्याग करना, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंको छोडना, मन और इंद्रियोंका निग्रह करना आदि उच्च कार्य हो सक्ते हैं, जिससे शुभ कर्मोंका बंध होता है, और अशुभ कर्मकी निवृत्ति पूर्वक उत्तम पद और मनोवाञ्छायें पूर्ण होती हैं। सद्धर्म धारण करनेसे आत्मा अपनी शक्तियोंका विकाश करता है—आत्मबलको बढाता है—अपनी अभ्यंतर वृत्तिको पवित्र बनाता है—पापसे डरता है और श्रेष्ठ कार्य करनेमें लवलीन होता है। यदि संसारमें उन्नत पथपर चलनेका मार्ग है तो एक मात्र सदाचार और सम्यक्त्व धारण करना है। इसके विना आत्म उद्देश पूर्ण नहीं हो सक्ते, लक्षपर नहीं पहुच सक्ते और आत्म सिद्धि नहीं कर सक्ते हैं। इसलिये सदाचार पालन करनेमें अपना मुख्य हित है, सर्व सिद्धि है, मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्व सहित सदाचारकी अल्पमात्रा भी ज्ञानसे अनतगुणी है। सदाचार सर्वोच्च और महान् है, वही आत्म धर्म है, सद्धर्मका स्वरूप है। ऐसे सद्धर्मसे ही मनुष्य, नरेन्द्र, देवेन्द्र, धरणेन्द्र आदि उत्तम पदोंको प्राप्त होते हैं और कर्ममलको नष्टकर अविनाशी सुखके भागी होते हैं॥ ४॥

जिस धर्मसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है वह धर्म रत्नत्रयात्मक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताको रत्नत्रय कहते हैं॥ ५॥

सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुका श्रद्धान करना

सम्यग्दर्शन है। प्रत्येक वस्तुमें प्रेम विश्वाससे होता है। विश्वास प्रेमका जन्मदाता है। धर्मका प्रेम—भक्ति भी विश्वाससे होती है। अथवा यह कहो कि समस्त कर्तव्योंका मूल मंत्र विश्वास है। विश्वास विना कोई काम नहीं हो सक्ता। विश्वास विना जीवन ही नहीं हो सक्ता। इस लिये सच्चे तत्वोंका सबसे प्रथम विश्वास करना चाहिये। रोगीको औषधिका विश्वास न होनेसे लाभके बदले हानि उठानी पडती है। सच्चे तत्वोंका विश्वास करे विना—आत्मविश्वास करे विना, आत्मकल्याणकी गति नहीं है—धर्मकी नीव विश्वासपर ही अवलंबित है। जिसको अपनी आत्माकी, सात तत्वोंकी, परलोककी और सर्वज्ञकी आस्था नहीं है वह जीव धर्मधारण नहीं कर सक्ता। सम्यग्दर्शन पचीस दोषरहित और आठ गुणसहित होना चाहिये। दोषों और गुणोंका स्पष्टीकरण ग्रन्थकारने आगे वर्णन किया है। सम्यग्दर्शनके दो तीन दश आदि अनेक भेद हैं॥ १ ॥

१—निसर्ग और अधिगमके भेदसे सम्यग्दर्शन दो प्रकार है। जो सम्यग्दर्शन सात प्रकृतियोंके क्षय—क्षयोपशम अथवा उपशमसे बाह्यमें किसी अन्य निमित्तके विना स्वयमेव ही प्रकट हो जाय—तत्वश्रद्धान हो जाय वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। और जो सात प्रकृतियोंके क्षयोपशमादि अंतरङ्ग कारणके होनेपर बाह्यमें परके उपदेशसे उत्पन्न हो वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भेदसे सम्यग्दर्शन तीन प्रकार है। सात प्रकृतियोंके अत्यन्त क्षयसे आत्म विशुद्ध रूप जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है। सर्वघाति स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और उन्हीं सर्वघाती स्पर्धकोंका सदवस्था उपशम होनेसे

सच्चादेव—सर्वज्ञ—निर्दोष और हितोपदेशी आत्माको कहते हैं। अज्ञपुरुष सच्चा देव नहीं हो सक्ता। अज्ञानता, दुःख और संसार बंधनका कारण है। आत्माकी पतितावस्था अज्ञानतासे ही है। अज्ञानताको नाश करना ही उन्नति है। आत्माका ज्ञान स्वभाव है। जिस समय यह आत्मा अपने समस्त ज्ञानावरणी कर्मको दूरकर—अज्ञानताको नष्टकर तीन जगत और तीन कालके समस्त चराचर द्रव्य और उसकी अनंतानंत पर्यायोंको युगपत् अपने अतीन्द्रिय आत्मज्ञानसे प्रत्यक्ष जानता है तब ही वह सर्वज्ञ कहलाता है। और सर्वज्ञ ही सच्चा देव हो सक्ता है।

और देशघाति स्पर्धकोंके उदय होनेसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायोपशमिक है। सप्त प्रकृतियोंके उपशम मात्रसे जो सम्यग्दर्शन होता है वह औपशमिक है।

आज्ञा मार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥

आज्ञोद्भव १, मार्गोद्भव २, उपदेशोद्भव ३, सूत्रोद्भव ४, बीजोद्भव ५, संक्षेपार्थोद्भव ६, विस्तारार्थोद्भव ७, अर्थोद्भव ८, अवगाढ ९, और परमगाढ १० इस प्रकार सम्यग्दर्शन दश प्रकार है।

सम्यग्दर्शन ज्ञानकी वृद्धिसे सम्बन्ध नहीं रखता है ऐसा नहीं है कि विशेष ज्ञानीके ही सम्यग्दर्शन हो। हाँ यह दूसरी बात है कि सम्यग्दर्शन होनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। एक आत्मज्ञानी मन्दज्ञानी भी सम्यग्दृष्टि होजाता है परन्तु आत्मबोधशून्य विशेष ज्ञानी भी मिथ्यादृष्टि रहता है। शास्त्रोंके अभ्यास बिना अरहंत भगवानकी आज्ञाको सत्य समझकर श्रद्धान करना आज्ञा सम्यग्दर्शन है। वीतराग मार्गमें मोहकी शांतिसे श्रद्धान करना मार्ग सम्यग्दर्शन है। तीर्थंकरादि महात्माओंके पवित्र चरित्रके सुननेसे जो सम्यग्दर्शन हो वह उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शन है। मुनि और श्रावकके चारित्र-

बहुतसे मनुष्य यह तर्क करते हैं कि सर्वज्ञ कोई हो नहीं सक्ता परंतु यह बात नहीं है क्योंकि हम ज्ञानकी तरतम अवस्था देखते हैं कि किसीमें ज्ञान कम है तो किसीमें ज्ञान अधिक है। इसका क्या कारण? ज्ञानका न्यूनाधिकपना यह साबित करता है कि किन्हीं आत्माओंमें सबसे अधिक भी ज्ञान होगा। और वे ही सर्वज्ञ हैं।

जिस समय सूर्य घनघोर बादलोंसे आच्छादित है-ढका हुआ है, उस समय सूर्यका प्रकाश अति मंद हो जाता है परंतु जैसे२ बादल फीके पडते जाते हैं सूर्यका प्रकाश भी वैसे २ उज्वल होता जाता है और अंतमें जब सूर्य निरभ्र (बादलरहित) हो जाता है तब वह पूर्ण प्रकाशी और उज्वल हो जाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा अपने ऊपर लगे हुए परदे (कर्म रूपी) को जैसे २ कम करता जायगा वैसे २ वह अपने ज्ञान गुणोंमें उन्नति करता जायगा और अंतमें समस्त कर्म (ज्ञानावरणी) को दूर करनेसे वह पूर्ण ज्ञानी-सर्वज्ञ होगा। जब तक ऐसा ज्ञान

दर्शक शास्त्रोंको सुनकर जो सम्यग्दर्शन हो वह सूत्र सम्यग्दर्शन है। कार्माणवर्गणा और आत्म परिणामोंकी स्थिति आदिके बीज गणितसे पदार्थोंको निश्चित जानकर श्रद्धान हो वह बीज सम्यग्दर्शन है। पदार्थोंके सक्षेप स्वरूप मात्र ज्ञानसे उत्पन्न हुआ श्रद्धान वह संक्षेपार्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। द्वादशाग वाणीको सुनकर जो श्रद्धान हो वह विस्तारार्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। प्रवचनके सुननेसे किसी अर्थसे श्रद्धान होना वह अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन है। अंग और अग बाह्यादि शास्त्रोंके जाननेसे जो श्रद्धान वह अवगाढ सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञानसे गम्य पदार्थमें श्रद्धान होना परमावगाढ सम्यग्दर्शन है। सात प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे परिणामोंमें जितनी विशेषता होती है उसके भेदसे अनत जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनंत है।

आत्मामें नहीं है तब तक वह परमात्मा भी नहीं है। इसलिये सर्वज्ञ ही सच्चा देव हो सक्ता है।

समस्त मत मतांतरवाले अपने अपने ईश्वरको सर्वज्ञ मानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं या नहीं ? इस वाद विवादकी यहां पर आवश्यक्ता नहीं है। यहां पर तो इतना ही विचार करना है कि यदि यह कल्पना सत्य ही समझ ली जाय कि सब मतमतांतरोंके माने हुए ईश्वर सर्वज्ञ हैं ? तो पुनः मतभेद क्यों ? मतभेदका कुछ कारण अवश्य ही होना चाहिये। वह कारण है निर्दोषता। संसारी जीवोंकी आत्मा दोषोंसे-विकारोंसे लिप्त होनेसे कर्माधीन है-परतंत्र है। जन्म मरणकी व्याधिसे अत्यंत दुःखित है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भयंकर विकारोंसे अत्यंत क्लेशित हैं। मोहसे विह्वल है-अपने असली स्वभावसे च्युत है, इच्छासे भयभीत है विवश है। और भी दोषोंसे अपवित्र है, मलिन है, पतित है। यह अवस्था आत्माकी दोषोंसे ही होरही है। दूषित वस्तु पूज्य नहीं होती। निर्दोषता ही पवित्रताका कारण है। निर्दोष आत्मा ही सच्चा देव होसक्ता है। जबतक आत्मा पूर्ण निर्दोष नहीं हुई है तबतक वह परमात्मा नहीं होसक्ती। इसलिये जो आत्मा पूर्ण ज्ञानवान है-सर्वज्ञ है और सर्वथा दोषोंसे मुक्त है वही परमात्मा है-ईश्वर है। उसको चाहे ब्रह्मा कहो विष्णु कहो अथवा महावीर कहो।

दोष अठारह हैं-क्षुधा[१], तृषा[२], बुढ़ापा[३], मृत्यु[४], राग[५], मोह[६], विस्मय[७], रोग[८], चिन्ता[९], खेद[१०], स्वेद[११], निद्रा[१२], रति[१३], जन्म[१४], भय[१५], द्वेष[१६], अरति[१७], और मद[१८]।

ये दोष साधारण नहीं हैं, बड़े भयंकर हैं। अरहंत परमात्मामें ये दोष नहीं हैं। इसी लिये अरहंत परमात्मा सच्चे देव हैं। परमात्मा दो प्रकार होते हैं एक सकल और निकल। शरीर सहित परमात्माको सकल और शरीर रहित परमात्माको निकल परमात्मा कहते हैं। जो मनुष्य अपने सदाचरण द्वारा सद्वृत्तियों द्वारा पवित्र है, हिंसा झूठ चोरी आदि पाप कर्मोंसे रहित होकर सच्चे परोपकारमें रत है—मेरी आत्माके समान समस्त जीव मेरे बंधु हैं, इस महान बुद्धिसे समस्त जीवोंपर सच्ची दया करनेमें तत्पर है। मन और इंद्रियोंको वशकर अपनी आत्माके स्वरूप चिंतवनमें लीन है, आत्मध्यानमें मग्न है वही मनुष्य उग्र तप द्वारा उन दोषोंको दूरकर सक्ता है। कोई ऐसा कहते हैं कि सकल परमात्माके आहार है, विहार है और मानसिक चिन्ता है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि परमात्माके चार घातिया कर्म नष्ट होगये हैं अतएव वे इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त हैं, परमविशुद्ध हैं—अनंत ज्ञान—अनंत दर्शन—अनंत वीर्य—और अनंत सुख सहित हैं। अनंत गुणोंसे मंडित हैं, त्रिलोक वंदित हैं, चेतना रूप हैं। आत्मा अपनी उन्नति करते २ जब इस रूप होता है तब वह परमात्मा होजाता है, स्वतंत्र होजाता है, कर्म मल रहित शुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था महान् तप द्वारा प्राप्त होती है। इसी लिये सकल परमात्मा शरीर सहित होता है, सदुपदेश देता है।

संसारी जीव विना स्वार्थके कार्य नहीं करते, कुछ न कुछ कार्य करनेमें अपना प्रयोजन रखते हैं। इसलिये वह परमात्मा भले ही निर्दोष—वीतराग है सर्वज्ञ है परंतु जबतक उससे

कुछ हित न हो सके—परोपकार न हो सके तबतक संसारी जीव विना प्रयोजन उसे क्यों पूजेगें—क्यों उसकी चाहना करेंगे ? अतएव उस परमात्माका लक्षण वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। निकल परमात्मा शरीर रहित नित्य अविनाशी सुखके भोक्ता अनंतगुण मंडित परम पवित्र, निःक्रिय लोकालोकके ज्ञाता अनंत प्रभा युक्त हैं।

शरीर रहित, कर्ममलरहित, अत्यंत विशुद्ध मुक्तात्मा जगतका कर्ता हर्ता नहीं हो सक्ता? और कर्ता हर्ताके कारण ईश्वरकी कल्पना भी वाग्जाल है, क्योंकि नित्य, निरंजन, शरीर रहित, व्याप्त (कर्ताको माननेवाले ईश्वरको व्याप्त मानते हैं) सर्व शक्तिमान और अनादिनिधन ईश्वर क्रिया रहित होनेसे किस प्रकार जगतको बना सक्ता है ? व्याप्त पदार्थमें हलन चलन रूप क्रिया किस प्रकार हो सक्ती है ? शरीर विना मूर्तीक पदार्थोंको किस प्रकार बना सक्ता है ? क्योंकि ईश्वर स्वयं अमूर्तीक है। अमूर्तीकसे मूर्तीक वस्तु कैसे उत्पन्न हो सक्ती है ? नित्य वस्तुमें क्रिया कैसे होती है ? नित्य आकाशमें क्रिया क्यों नहीं ? ईश्वर नित्य होकर यदि क्रिया करता है तो प्रलय कालमें वह क्रिया कहां चली जाती है ? वह नित्य ही नहीं होगा। अनादि ईश्वरसे सादि कार्य कैसे हुए ? ईश्वर अनादि है तो वह जगतके विना कैसे कहां रहा ? क्रियायें इच्छासे होती हैं। ईश्वरके इच्छा होनेसे वह दोषी ठहरेगा। ईश्वरको किसने बनाया ? सर्व शक्तिमान होनेसे उसके बताये हुए सर्व पदार्थ सुंदर एकसे होने चाहिये। फिर कोई दुःखी, कोई रोगी, कोई दरिद्री, कोई सुखी

[इत्यादि विषम क्यों बनाये ? एकको अच्छा और एकको बुरा बनाना सभ्य आत्माका काम नहीं। ईश्वरने ईश्वर कर्ता निंदक—चोरी करने वाले—व्यभिचार करने वाले क्यों बनाये ? यदि दण्ड देनेको, तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि प्रथम ऐसे जीव पैदा करना और फिर उनको दंड देना यह सभ्यता और न्यायके विरुद्ध है। कर्म हम करें और उसका फल ईश्वरसे मिले यह असंभव है। जो करेगा वह पायेगा। जो भोजन करेगा वह तृप्त होगा। एक ईश्वरसे परस्पर विरोधवाले नित्य और अनित्य कार्य एक समयमें नहीं हो सक्ते। एक समयमें एक कारणसे एक ही क्रिया होगी। संसारमें अनंत परस्पर एक दूसरेसे विरोधी (जैसे एक समयमें ही एक जन्म लेता है तो दूसरा मरता है-एक दुःखी है तो दूसरा सुखी है) कार्य एक समयमें एक साथ होते दीखते हैं वे ईश्वरसे नहीं हो सक्के ? कर्ता हर्ता ईश्वर हो ही नहीं सक्ता। ईश्वरको कर्ता हर्ता कहना मानों ईश्वरको कलंक लगाना है। प्रत्यक्षसे ऐसा ईश्वर कर्ता दीखता नहीं है। भला मेघको कौन बनाता है ? ईश्वर, ऐसा कह नहीं सक्ते। यह सायन्ससे स्पष्ट सिद्ध है कि मेघ भापसे स्वयमेव बन जाते हैं और प्रत्यक्ष इसका अनुभव है। रसोई घरमें ही परीक्षा कर सक्ते हैं। विद्यार्थीवर्ग स्कूलमें मेघ बनाते हैं। फिर ईश्वरको मेघ बनाने वाला कहना कितने आश्चर्यकी बात है। इसी प्रकार और समस्त वस्तु प्रकृतिसे स्वयमेव बनती है। शरीर सहित ईश्वर बनाता है तो दीखना चाहिये, अनुमानसे सिद्ध हो नहीं सक्ता क्योंकि-कर्ताका ईश्वरके साथ अविनाभावी संबंध नहीं बनता

और अविनाभावी संबंधके विना अनुमान नहीं हो सक्ता। उसमें भागासिद्ध विरुद्ध अनेकान्तिक दूषण होनेसे वह वाधित हो जाता है। आगमसे ईश्वरकर्ता सिद्ध नहीं होता क्योंकि आगम ईश्वर कृत है और आगमसे ईश्वरकर्ता। ये परस्पर अन्योन्याश्रय दूषण भागी है। उपमानादि प्रमाण ईश्वरको कर्ता सिद्ध नहीं कर सके क्योंकि ईश्वर समान दूसरा ईश्वर कर्ता कल्पना करना हास्यकारक बात है और उपमान प्रत्यक्ष ज्ञान लिये होता है ऐसा दूसरा ईश्वर दीखता भी नहीं। इस लिये ईश्वरको कर्ता-हर्ता कहना ईश्वरके स्वरूपमें धोखा देना है। ईश्वर तो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी ही हो सक्ता है ॥ ७-८ ॥

अतींद्रिय पदार्थोंका उपदेश विना सर्वज्ञके नहीं हो सक्ता, प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणसे विरोधरहित, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित, सत्य सत्य पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ विना हो नहीं सक्ता। और सच्चे शास्त्रका उपदेश विना आप्तके सिद्ध हुए नहीं होता है।

भावार्थ—आप्त (सच्चे देव) की सिद्धि सच्चे शास्त्रसे होती है। और सच्चा शास्त्र सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादन किया हुआ होता है ॥ ९ ॥

सच्चा शास्त्र-सर्वज्ञ—(वीतराग) द्वारा कहा हुआ हो। प्रमाणभूत हो (प्रत्यक्ष, परोक्ष, युक्ति, आदिसे विरोध रहित हो) वही सच्चा शास्त्र है, आगम है। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञके किसी प्रकारका राग और द्वेष नहीं है जिससे वह अन्यथा प्रतिपादन करें। जिसको कुछ स्वार्थ होता है, राग होता है, द्वेष होता है, अज्ञान होता है, कपट होता है, वह पुरुष अन्यथा भी कह सक्ता है।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके उक्त दोष नहीं होनेसे उनके कहे हुए आगम प्रमाणभूत हैं, सत्य हैं। इसका भी हेतु यह है कि उन आगमोंमें प्रत्यक्ष परोक्ष किसी प्रकार विरोध नहीं है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित होता है वह सत्य नहीं होता, प्रमाणभूत नहीं होता उसी प्रकार परोक्ष और युक्तिसे बाधित पदार्थ भी अप्रमाण-भूत होते हैं, शास्त्रकी प्रमाणता उसमें कहे हुए पदार्थोंके लक्षणमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्षसे बाधा नहीं होना है।

आप्तके—सच्चे देवके रागद्वेष नहीं है तो वे विना प्रयोजन उपदेश क्यों देते होंगे ? जिससे यह माना जाय कि सच्चे देवका प्रतिपादित आगम है। सच्चे देव वीतराग होनेपर भी अपने स्वभावसे विना प्रयोजन धर्मोपदेश देते हैं—पदार्थ स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। संसारमें ऐसे अनंत पदार्थ हैं जिनको रागद्वेष कुछ प्रयोजन न होनेपर भी वे निमित्तवश स्वभावसे कार्य करते हैं। वस्तु स्वभावमें तर्क अयोग्य है मेघको कुछ प्रयोजन नहीं होनेपर जिस प्रकार वह वृष्टि करता है।

उसी प्रकार अरहंत प्रभु भी विना प्रयोजन उपदेश करते हैं। विना इच्छाके उपदेश होनेमें दो कारण प्रधान हैं, एक तो भव्य जीवोंका पुण्योदय। जिस प्रकार जीवोंके पुण्योदयसे मेघवृष्टि आदि कार्य होजाते हैं उसी प्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि भी खिर जाती है। यह बाह्य कारण है। अंतरङ्ग कारण वचन योग है। इन्हीं दो कारणोंके योगसे अरहंतकी वाणी अनायास खिरती है ॥१०॥

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व जिनागममें कहे हैं ॥११॥

जीवका लक्षण—चेतना है। 'चेतना लक्षणो जीवः' ऐसा आगम है। चेतना ज्ञान दर्शनको कहते हैं अर्थात जिसमें ज्ञान दर्शन हो वह जीव है। आत्मा है। यह जीव संसारी अवस्थामें कर्ता है, भोक्ता है, अपने शरीरके बराबर है, मूर्तीक है और सिद्ध अवस्थामें अमूर्तीक है—शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनमयी है।

जीव दो प्रकारके होते हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्ध जीवको परमात्मा कहते हैं और वे समस्त कर्मोंसे रहित अष्टगुण सहित होते हैं। संसारी जीव—अनेक प्रकार हैं। सामान्यतासे दो भेद रूप हैं—त्रस और स्थावर। दो इंद्रियसे आदि लेकर पंचेंद्रिय पर्यंत त्रस हैं। और जिनके एक स्पर्शन (शरीर) इंद्रिय हो वे स्थावर हैं। इसके भेद प्रभेद होनेसे संसारी जीव अनंत प्रकार हैं।

जीवकी पहिचान सामान्य रीतिसे यह है कि जिसके ज्ञान हो—जो जानता हो, दर्शन हो—देखता हो। इंद्रिय हो (शरीर, जीभ, नाक, आंख और कान इनमें लगे हुए आत्म प्रदेश जिससे यह सर्व प्रकारका ज्ञान कर सके उसको इंद्रिय कहते हैं) आयु हो। श्वासोश्वास हो और बल (शरीर वचन मन) हो वह जीव है। जो क्रिया (हलनचलन) कर सक्ता है, सुख दुःखका अनुभव कर सक्ता है, किसी शरीरके आधार स्थिर रह सक्ता है, इंद्रिय और मन द्वारा समस्त कार्य करता है, जन्म मरण रूप पर्याय (अवस्था, हालत) बदलता रहता है वह संसारी जीव है। जीव नित्य है।

बहुतसे भोले मनुष्य जीवको नहीं मानते, यह उनका मानना मिथ्या है। क्योंकि शरीरके अंदर ऐसी शक्ति होना असं-

भव है। उन लोगोंका यह कहना है कि पंच भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से ऐसी शक्ति होजाती है जो सब कार्य करती दिखाती है। इसलिये न तो कोई मरता है? और न कोई उत्पन्न होता है। यह सब माया जड़ पदार्थोंके संयोगकी है। उनका यह कहना बिलकुल युक्तिशून्य है। क्योंकि जड पदार्थोंमें चेतना होना असंभव है। जड पदार्थ मूर्तीक हैं उनसे अमुर्तीक आत्मा नहीं होसक्ती? भला मूर्तीकसे अमूर्तीक कैसे हो? जड पदार्थ अनित्य हैं—विनाशीक हैं उनसे नित्य आत्मा कैसे उत्पन्न होसक्ता है? पदार्थ जड हैं—ज्ञान रहित अचेतन हैं। अचेतन वस्तुओंसे सचेतन कैसे उत्पन्न होसक्ता है? जड पदार्थोंको सुख दुःखका अनुभव नहीं होता, सुख दुःखका अनुभव करनेवाला शरीरमें कौन है? जड पदार्थ देख नहीं सके, यह देखनेवाला कौन है? जड पदार्थ जान नहीं सके, यह जाननेवाला कौन है? जडपदार्थ रस स्वाद नहीं कर सके यह रस चखनेवाला कौन है? रसायन और विज्ञानसे समस्त पदार्थ सिद्ध हो सक्ते हैं परन्तु ज्ञाता दृष्टा, भोक्ता, कर्ता आदि विशेष गुणवाला आत्मा नहीं बनता? जड पदार्थ खंडित होकर स्वयं बढ़ नहीं सके। वनस्पति आदि जीवोंके शरीरको काटने पर बढते हैं? इसका कारण क्या? जड पदार्थ स्वयं पुष्ट नहीं होते, यह पुष्ट होनेवाला कौन है? क्या ये तर्क आत्माको सिद्ध नहीं करते? क्या ये उक्तियां आत्माको साबित नहीं करती हैं? प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी आत्मा सिद्ध है। प्रत्यक्षमें जीवनशक्ति जडसे भिन्न सुख दुःख अनुभव करनेवाली नजर आती है, 'मैं हूं' 'मैं सुखी हूं' मैं दुखी हूं, इत्यादि प्रत्यक्ष

'सोऽहं' कहनेवाला आत्मा है, जीव है। तथा अनेक प्रसंगोंपर अनेक वार जाति स्मरणकर अपनी सत्ता सिद्ध करनेवाली जीवोंकी घटना बनती है। एवं भूत प्रेत संबंधी घटना भी कभी कभी प्रत्यक्ष अनुभव होती है इन घटनाओंसे जीव कोई पदार्थ है इतना ही सिद्ध नहीं होता किंतु यह भी सिद्ध होता है कि वह अनेक अवस्थामें बदलता है—पुनर्जन्म धारण करता है—आवागमन करता है—परलोकको प्राप्त होता है। अनुमानसे तो जीवकी सत्ता अव्यावाध सिद्ध होती है और वास्तविक जीव अमूर्तिक होनेसे यद्यपि इन्द्रियगोचर नहीं है—देखनेमें नहीं आता तथापि अनुमानसे अच्छी तरह सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है 'अस्मिन् शरीरे जीवोऽस्ति स्वानुभवत्वात्, सचेतनत्वात्, ज्ञानदर्शनमत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा घटः, इस शरीरमें जीव है वह स्वानुभव सिद्ध है, सचेतन होनेसे ज्ञानदर्शनमयी होनेसे। जो जो पदार्थ ज्ञानदर्शनमयी हैं वे जीव हैं, जो पदार्थ ज्ञानदर्शन स्वरूप नहीं हैं वे जीव भी नहीं होते जैसे घट। यह अनुमान जीवकी सत्ताको—अस्तित्वको अच्छी तरह सिद्ध करता है। आगमसे जीव सिद्ध है। मैं शरीरसे भिन्न हूं, ऐसा मानसिक स्वयं अनुभव होता है इससे भी जीवकी सिद्धि सुसिद्ध है। वर्तमानमें ऐसे उदाहरण अनेक होते दीखते हैं जो अपने पूर्व जन्मकी कथाको सप्रमाण कहते हैं और वह बात बिलकुल ज्योंकी त्यों सत्य निकलती है। इससे जीवकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। और एक यह भी बात है कि मनुष्य भले बुरे कर्म नित्य करता है उसका फल कोई भोगनेवाला अवश्य होना चाहिये

क्योंकि कृत कर्म निरर्थक नहीं होते। इससे तो स्पष्ट जीवकी सत्ता सिद्ध होती है। भला जीव संसारमें नहीं है तो दान पुन्य क्यों किया जाय? चोरी करनेसे किसको दण्ड दिया जाय? एक मनुष्यकी आभ्यंतर वासना बहुत ही मलिन है, निंद्य है—वह सदा दूसरेका बुरा ही चाहता है। लोग कहते हैं कि तुझको इसका बडा दण्ड मिलेगा। यह ऐसा क्यों होता है? दण्ड पानेवाला कौन है? जड पदार्थको दड पानेका अनुभव नहीं होता और न उसके कुछ विकार ही होता है। एक मनुष्यने क्रोधसे बहुत बुरा विचार किया, यह विचार शक्ति जड पदार्थमें नहीं होती। विचार शक्तिका धारक दूसरा कोई पदार्थ है और वह जीव है। साधन सामग्रीके मौजूद रहनेपर भी जीवके चले जानेसे फिर यह शरीर क्यों पूर्ववत् कार्य नहीं करता? वह शक्ति कौनसी है जो मुर्दामें कार्य नहीं होने देती? वही जीव है। पंचभूत शरीरके विना अन्यत्र भी एकत्र होसक्ते हैं संयोजित होते हैं फिर उनमें क्यों नहीं जाननेकी देखनेकी सुख दुःख अनुभव करनेकी शक्ति पैदा होती है? इसका क्या कारण? जो दवा सचेतन प्राणीके शरीरमें दीजाती है वह अपना कार्य करती है, परन्तु वही दवा सचेतन रहित पचभूत (जड पदार्थ) में देनेसे कुछ कार्य नहीं कर सक्ती। इससे भी यही ज्ञात होता है कि जड पदार्थोंमें चेतना शक्ति नही है। और जीव पदार्थ स्वतंत्र है।

कितने ही मनुष्य जीवकी सत्ता मानते हुए भी उसका पुनर्जन्म नहीं मानते, उनको यह विचारना चाहिये कि संसारमें कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता, और नवीन उत्पन्न नहीं होता,

पदार्थ मात्र नित्य हैं। ऐसा कोई छोटेसे छोटा, बडेसे बडा, जड अथवा चेतन पदार्थ नहीं है जिसका सर्वथा नाश होता हो। परन्तु वर्तमानमें जिन जिन पदार्थोंको विघटते हुए या उत्पन्न हुए देखते हैं वह उनका नाश, अथवा उत्पत्ति नहीं समझ लेना चाहिये, यह तो उनकी अवस्था बदल गई है। जैसे एक लकड़ी जलायी, तो क्या लकड़ीका द्रव्य नाश होगया? नहीं, वह द्रव्य भस्मरूप अवस्थामें परिणत होगया। और भस्मसे पुनः मृतिका रूप होगया, धीरे २ उस द्रव्यके परमाणु अन्यरूप परिणम जाते हैं। इस प्रकार अनंत अवस्थामें उस द्रव्यकी परणति बदलती रहती है परन्तु वह मूल द्रव्य जैसाका तैसा प्रत्येक अवस्थामें मौजूद है नित्य है अपनी सत्त से प्रत्येक अवस्थामें स्थिर है। उसका किसी भी प्रकार नाश नहीं होसक्ता और न होता है। हां अवस्थाओंके बदलनेको भले ही उत्पन्न हुआ और नाश हुआ मानो परन्तु यथार्थमें अपने निज रूपसे वह द्रव्य सर्व अवस्थामें मौजूद है। इस लिये न तो द्रव्य नाश ही होता है और न नवीन उत्पन्न ही होता है।

द्रव्यका यह अचल और विश्वव्यापी नियम अनादिकालसे चला आया है और अनंतानंत काल पर्यंत भी इसका नाश नहीं होनेका, यह नियम अनादि निधन है। इस नियमसे जीव द्रव्यका भी कभी नाश नहीं होता जैसे अन्य द्रव्य नित्य हैं वैसे जीव भी नित्य है, अतएव उसका नाश होना नितांत असम्भव है। जब जीव द्रव्य उक्त नियमसे नित्य है अविनाशी है तो वह मरता भी नहीं, नवीन उत्पन्न भी नहीं होता किन्तु अनेक अवस्थाओं

बदलता रहता है। मनुष्य पर्यायसे मरकर देव अथवा तिर्यंचादि होता है और वहांसे फिर अन्य अवस्था बदलता है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने पुराने जीर्ण घरके गिर जानेपर दूसरे घरमें चला गया, तो उस मनुष्यका नाश नहीं हुआ। सोनेके कड़े तोड़कर कुंडल बनवाये तो क्या सोना नाश हो गया? नहीं, पर्याय बदल गई. ठीक इसी प्रकार जीव भी अपने कर्मानुसार अन्य अन्य पर्यायको बदलता रहता है यही उसका 'पुनर्जन्म धारण' करना कहलाता है। कृत कर्मोंका फल अवश्य भोगना चाहिये। इसी लिये जीव अपने कर्मानुसार नवीन नवीन जन्म धारण करता है और मरता है, अपने किये हुए कर्मोंका सुख दुख भोगता है। इस प्रकार अनादि कालसे जैसे बीजसे वृक्ष है और वृक्षसे बीज होता है इसमें न तो बीज प्रथम था और न वृक्ष ही, किंतु अनादिकालसे यह संतति चली आती है और चली जायगी। इसी प्रकार जीव भी अपने कर्मानुसार एक शरीर धारण करता है और पुनः मन वचन काया द्वारा कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ के विवश होकर अनेक भले बुरे कर्म करता है और पुनः उन कर्मोंके कारण नवीन जन्म धारण करता है। अर्थात् कर्मसे शरीर और शरीरसे रागद्वेष कषायें और कषायोंसे पुनः कर्मबन्ध, इस प्रकार अनादि-कालसे चक्र चल रहा है। इसी चक्रसे जीव अनादिकालसे जन्म मरण करता है। न कोई किसीको बनाता है न मारता है। यह मिथ्या कल्पना है कि ईश्वर बनाता है कर्ता है, ईश्वर कुछ नहीं बनाता है किंतु प्रकृति (कुदरत—नेचर) स्वयमेव परिणमनशील है, वह एक एक अवस्थामें स्थिर नहीं रह सकती। द्रव्य क्षेत्र काल और भवके

निमित्तसे उक्त चक्रसे स्वयमेव नवीन शरीर उत्पन्न होजाता है। और नाश होता है, परन्तु प्रत्येक अवस्थामें जीव ज्योंका त्यों उतने ही प्रदेशसे मौजूद है अर्थात् अनेक अवस्था रूप पुनर्जन्म धारण करता है।

दूसरी बात यह भी है कि स्मरण प्रमाण और प्रत्यभिज्ञानसे संसारका कार्य चल रहा है। लेना देना यह सब व्यवहार स्मरणाधीन है। आपने एक मनुष्यको पचास रुपये ऋण दिये यदि आपको स्मरणज्ञान होगा तभी आप उन रुपयोंके लेनेके अधिकारी हैं। अथवा जिसको रुपये दिये हैं वह यही है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होना चाहिये अन्यथा किससे रुपये वसूल हों? संसारका व्यवहार मात्र इन दोनों ज्ञानोंसे होरहा है। इन ज्ञानोंके विना एक क्षण निर्वाह नहीं होसक्ता है। ये दोनों ज्ञान प्रमाणभूत हैं, सत्य हैं—यथार्थ हैं।

बालक उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही वह तत्काल दूध पीने लग जाता है इसका क्या कारण? सद्य जात बालकको दूध पिलाना किसने सिखलाया? विना सिखलाये दूध पीना उसको कहांसे आगया? यदि इस बातका विचार करेंगे तो दूध पीनेमें कुछ कारण अवश्य ही मानना पड़ेगा, विना कारणके कार्य हो नहीं सक्ता। बालकको दूध पीनेका कारण क्या? बालक उक्त स्मरण और प्रत्यभिज्ञानसे दूध पीता है। उसने पूर्व जन्ममें अनंतवार दूध पिया था उसका उसको स्मरण होगया और दूध पीनेकी क्रिया माताके नवीन स्तनोंके स्पर्शसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा होगई। इन दोनों ज्ञानोंसे उक्त प्रकार पुनर्जन्म निराबाध सिद्ध है। विना

स्मरणके वह बालक दूध पी नहीं सक्ता और विना प्रत्यभिज्ञानके वैसी क्रिया नहीं करसक्ता है। स्तनपान करनेमें मुख्य कारण उक्त ज्ञान हैं। और वे ज्ञान पुनर्जन्मको अच्छी तरह सिद्ध करते हैं।

इतना ही नहीं किंतु कृत कर्मोंका फल पुनर्जन्मको सिद्ध करता है। वृक्षका उत्पन्न होना बीज विना नितान्त असंभव है। इसी प्रकार शरीरका धारण करना पहले संचित कर्मोंके विना असंभव है। कारणके विना कार्य होता नहीं और वे कर्म पुनर्जन्मको स्पष्ट प्रमाणित कर रहे हैं।

पुनर्जन्मके उदाहरणभूत दर्शन और जाति स्मरणसे कभी २ प्रत्यक्ष भी होते हैं। ग्वालियरके पास एक गांवका बालक अपने पहले जन्मकी सब बातें बतलाता है, महाराज ग्वालियरने स्वयं उसे बुलाकर सब बातें पुछी हैं और वे ज्योंकी त्यों निकली हैं। पहले जन्ममें वह बालक डाकू था किसने उसे किस प्रकार मारा सब बतलाता है। मारनेवाला अभीतक मौजूद है। लड़का मारनेवालेपर देखते ही क्रोध प्रगट करता है और बदला लेनेके लिये कहता है। इसलिये यह तो सिद्धात है कि जीव पुनर्जन्म धारण करता है। इसका विशेष विवरण युक्तिपूर्ण. विश्वतत्व प्रकाशमें स्पष्ट है। वनस्पति आदिमें जीव है यह बात विज्ञानाचार्य जगदीशचंद्र वसु भी सिद्ध करते हैं। जब वनस्पति आदिमें जीवसत्ता सिद्ध है तो मनुष्य आदि इतर प्राणीमें जीवका अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध है।

संसारी जीव रागद्वेष कषायोंसे ज्ञानावरणादि अष्ट पुद्गलीक कर्मोंका कर्ता है। अर्थात् नवीन कर्मोंको बांधता है और अशुद्ध

निश्चय नयसे रागादि भावोंका कर्ता है। शुद्ध निश्चयसे जीव कर्ता नहीं है। शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शन स्वभावमय है—व्यवहारसे घट पटादिका कर्ता है। देखते हैं—मनुष्य घट पट आदि बनाता है।

उसी प्रकार यह संसारी जीव ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंके फलोंका भोगनेवाला है। रागद्वेषादिसे उत्पन्न हुए कर्मोंका भोक्ता है। अर्थात् कृत कर्मोंके उदयसे प्राप्त सुख दुःख, पुत्र, मित्र, धन, अज्ञान, निद्रा और अनेक अवस्थायें—नर नारकादि रूप सबका भोगनेवाला है। जिसने जैसा कर्म किया है—जिसने जैसा बीज बोया है उसका फल वह जीव भोगनेवाला है। ऐसा नहीं है कि चोरी, व्यभिचार और प्रपंच एक मनुष्य करे, और उसका फल (दण्ड) अन्य कोई दूसरा भोगे। अथवा ईश्वर भोगे या ईश्वर उनकी प्रार्थना सुनकर माफ कर दे। ईश्वर ऐसा कर नहीं सक्ता क्योंकि ईश्वरके रागद्वेष नहीं है। विना रागद्वेष कषायोंके दण्ड देना क्षमा करना बन नहीं सक्ता। इसलिये यही निश्चय है कि जिसने जैसा किया है वह उसका फल भोगेगा। प्रत्यक्ष भी यही देखते हैं कि जो चोरी करता है वही दण्डित होता है। इसलिये संसारी जीव अपने कृत कर्मोंका भोक्ता है। शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शनसे उत्पन्न हुआ अनंत आत्मीक सुखका भोक्ता है।

यद्यपि जीवका स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है तथापि संसारी जीवके ज्ञानावरणी आदि आठ कर्म अनादि कालसे संबंधित हो रहे हैं इसलिये ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मका पर्दा (आवरण) इसके ऊपर हो रहा है जिसके फलसे उसका ज्ञान

गुण और दर्शन गुण ढक गया है। शुद्ध ज्ञान–सकल चराचर प्रत्यक्षभासी केवल ज्ञान प्रकट नहीं है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान अथवा कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधिज्ञान अपने अपने कर्मोंकी शक्तिके अनुसार (न्यूनाधिक) प्रकट होरहा है। उसी प्रकार सकल प्रत्यक्ष करानेवाला केवल दर्शन अप्रकट है और चक्षु दर्शन (नेत्रोंसे देखना), अचक्षु दर्शन (चक्षु सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे देखना जैसे अग्निके स्पर्शसे गर्म पदार्थका दर्शन) और यथाशक्ति अवधि दर्शन प्रकट हो रहा है। इसमें इतना विशेष है कि जिन जिन कर्म प्रकृतियोंका क्षय अथवा क्षयोपशम है तदनुसार ज्ञान, दर्शनका तरतम अवस्थासे विकाश है। जिस जीवके चक्षु दर्शनावरणी कर्मका उदय (क्षयोपशमका अभाव) है उसके चक्षु होते ही नहीं इसी प्रकार प्रत्येक कर्मकी प्रकृतिके क्षयोपशमसे भिन्न भिन्न परिणाम हो रहा है।

जीव यथार्थमें अमूर्तीक है। अमूर्तीकका अर्थ यह नहीं है कि जिसकी कोई मूर्ति नहीं है। किन्तु अमूर्तीक उसे कहते हैं कि जिसमें रूप, स्पर्श, रस और गंध ये चार गुण न हों। जिसमें ये चार गुण है चाहे वह इन्द्रियोंसे–नेत्रोंसे दीखती हो अथवा नहीं, अत्यंत सुक्ष्म हो अथवा स्थूल, सूक्ष्म आकारवाला हो अथवा स्थूलाकार हो वैसा भी हो वह मूर्तीक है। आत्मा भी अनादिकालसे कर्माधीन है, पौद्गलीक कर्मोंके कारण आत्मा अपने स्वरूपसे बिलकुल उलटा (विपरीत) हो रहा है। अर्थात् यद्यपि आत्मा (जीव) शुद्ध स्वभावसे (असली रूपमे) अमूर्तीक है तथापि कर्मोंके कारण वह मुर्तीक है, क्योंकि कर्मोंके कारण इस आत्माके साथ शरीरका

संबन्ध है, कर्म अथवा शरीर पौद्गलीक हैं, रूप रस स्पर्श गंध सहित हैं। उसके सहवाससे यह संसारी जीव भी स्पर्श रस गंध वर्णवाला हो रहा है। परन्तु यथार्थमें वह वैसा नहीं है। वह अपने स्वभावसे दूसरे रूप परिणमन हो रहा है। जिस प्रकार हलदी पीली होती है चूना सफेद, परन्तु दोनोंके—हलदी और चूनाके मिलनेसे लाल रंग होजाता है ठीक उसी प्रकार यह आत्मा अपने स्वभावसे अन्यरूप परिणमन हो रहा है—मूर्तीक होरहा है। जिस समय वह सत्कर्मों द्वारा—परोपकार, सदाचरण, आत्मचिंतवन करता हुआ धीरे २ उग्र तप और श्रेष्ठ ध्यान द्वारा समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है तब वह कर्म बंधन रहित होनेसे पूर्ण स्वतंत्र—अमूर्तीक अपने असली स्वभाव रूप होजाता है—पुनः कर्म बन्ध नहीं होनेसे अनंतकाल पर्यन्त आत्मीक सुखका भोक्ता होजाता है। जिस प्रकार खानिमेंसे अशुद्ध सोनेको रसायन द्वारा शुद्ध करलिया जाय तो वह सोना कल्पान्त कालमें पुनः अशुद्ध नहीं होता यह स्थूल दृष्टान्त है, इसी प्रकार आत्मा कर्ममलको दूर करनेसे अपने असली अमूर्तीक स्वभावमें स्थिर रहती है। इसलिये आत्मा अमूर्तीक है और संसारमें रहनेसे कथंचित् मूर्तीक भी है।

यह संसारी जीव स्वदेह परिमाण है। समस्त जीवमात्रमें शक्ति एक समान है, गुण सबमे एक सदृश और समान हैं, जीव मात्रके प्रदेश बराबर हैं। कोई भी जीव शक्तिमें गुणमें और प्रदेशोंकी संख्यामें न्यूनाधिक नहीं है।

जगतमें यह देखते हैं कि कोई जीव अति सूक्ष्म है तो कोई जीव अति स्थूल है। एक जलबिन्दुमें माइक्रोप (खुर्दबीन—

सूक्ष्मदर्शक यंत्र)के देखनेसे १७०० सत्रहसौ जीव प्रत्यक्ष दीखते हैं। यदि इससे भी अच्छा सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेका यंत्र आविस्कार हो तो शायद अधिक जीव उस एक जलबिंदुमें दृष्टिगोचर हो सकें। एक तो इतना सूक्ष्म जीव है, दूसरा हाथी जैसा स्थूल है, इसका क्या कारण? ऐसी तर्क अवश्य पैदा होती है। जब जीवकी शक्ति एक समान है तो यह घटना किस प्रकार होती है? पदार्थोंकी ऐसी विषम रचना देखकर ऐसी शंकाका होना स्वाभाविक है। जीवोंके सूक्ष्म और स्थूल शरीर होनेका कारण क्या? पदार्थोंका परिणमन (अवस्थाओंका बदलना) स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावोंके निमित्तानुकूल होता है। और यह बात प्रत्यक्ष प्रत्येक समय अनुभवमें आती है। एक चनेके बीजको योग्य द्रव्य क्षेत्रकालकी अनुकूलता मिलती है तो वह अंकुरित होता है अन्यथा नहीं। अंकुरित होनेपर भी पानी हवा, गरमी और क्षेत्रकी मिट्टी अनुकूल मिलेगी तो वह बहुत अच्छी तरह बढेगा,

---

१ बहुतसे लोग, पानी छानकर पीना जैन धर्मका कर्तव्य है ऐसा समझकर विना छना पानी पीलेते हैं, उनको इतने जीवोंकी हिंसाका विचार करना चाहिये। जलकी अपेक्षा और पदार्थोंमें भी अति सूक्ष्म जीव होते हैं। रोगके कीटाणु (विषम रोगको फैलानेवाले जीव) इनसे भी अति सूक्ष्म होते हैं।

२–बहुतसे मनुष्य प्रकृतिके इस विषम परिणमनको देखकर ही सृष्टिकर्ताको अंगीकार करते हैं परन्तु यथार्थमें बात यह नहीं है। पदार्थोंका परिणमन इससे भी अधिक आश्चर्यकारी होता है। जैसे किसी समय बादलोंकी रचना, एकायक मेघ बरसना, भयकर तूफान होना, प्रकृतिके आश्चर्यकारक देखने हैं।

फलरूप होगा अन्यथा हीनाधिक होगा। संसारी जीवकी भी यही अवस्था है जब इसको अपने नाम कर्मके अनुसार स्थूल पर्यायके नोकार्माण और कार्माण वर्गणाओंका निमित्त मिलता है तब इस जीवसे स्थूल शरीर योग्य पुद्गल परमाणुओंका सम्बन्ध होता है और तभी इस जीवके प्रदेश उस शरीरानुसार विस्तृत हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म शरीरके प्रदेशोंका सम्बन्ध होता है तो जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं परन्तु प्रदेशोंकी संख्या घटती बढ़ती नहीं है, प्रदेशोंमें संकोच विस्तार की विलक्षण शक्ति है।

दीपकको जितने क्षेत्रकी अनुकूलता मिलेगी वह उतने ही क्षेत्रमें प्रकाश करेगा। एक दीपकको एक छोटी मटकीमें (घड़ेमें) रख दिया जाय तो वह दीपक घट प्रमाणमें ही अपना प्रकाश कर सकेगा। यदि वह दीपक एक कमरामें रख दिया जाय तो वह सर्व कमराको प्रकाशित कर सकेगा। क्योंकि दीपकके प्रकाशमें संकोच विस्तार शक्ति है। उसी प्रकार आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार शक्ति है। जिससे उसको नाम कर्मके उदयसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर प्राप्त होता है तदनुसार वह अपने आत्म प्रदेशोंकी संकोच विस्तार शक्तिसे छोटे या बड़े आकारमें प्राप्त होजाता है।

दूसरी यह भी बात है कि जैसे तीव्र, तीव्रतर अथवा मंद भाव होंगे वैसे ही निमित्त आकर मिलते हैं। वडका बीज अत्यंत अल्प मात्र है परन्तु उस बीजकी शक्ति महान होनेसे कितना बड़ा वृक्ष होता है। इसी प्रकार तीव्रादि भावोंकी शक्तिसे वैसे ही द्रव्य क्षेत्र कालकी योग्यता मिलती है। तदनुसार आत्माके

प्रदेश संकोच विस्तार शक्तिसे शरीर प्रमाण होजाते हैं।

जीवकी यह अवस्था कर्मके कारण हुई है इसीलिये ऐसे जीवको संसारी जीव कहते हैं। कर्म अनादिकालसे संबंधित हैं। ऐसा नहीं है कि प्रथम जीव शुद्ध था फिर कर्म आकर मिले। अथवा जीव और कर्मोंका संयोग अमुक कालमें हुआ। बहुतसे मनुष्य यह तर्क करते हैं कि संयोग पूर्वोत्तर कालवर्ती होता है इसलिये जीव पहले था फिर कर्म मिले, इसलिये वे कर्म कैसे मिले? कौनने उनको जीवके साथ मिलाया ऐसी झूठी तर्कसे वे वस्तु स्वभावको न जानकर जगतको सादि और किसी एक विशिष्ट पुरुषसे रचित बतलाते हैं। परंतु यह तर्क बहुत गहरी भूल है। वे वस्तु स्वभावको—प्रकृति धर्मको बिलकुल ही नहीं जानते, उनको पदार्थोंका परिणमन—परिवर्तनका कुछ ज्ञान ही नहीं है। पदार्थोंकी अवस्थाओंका परिणमन (हालत बदलना) दो प्रकार होता है। स्वतः और परतः। पदार्थोंके स्वतः परिणमनमें (द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी योग्यता) निश्चय कालकी प्रेरणा शक्ति और द्रव्यको आत्मशक्ति, क्षेत्रकी आधार शक्ति इत्यादि कारण सम्बंध रखते हैं। इन कारणोंके विना द्रव्य परिणमन कर नहीं सक्ता और यह सिद्धान्त है कि द्रव्य एक स्वरूपमें—एक अवस्थामें—एक पर्यायमें कभी स्थिर नहीं रह सक्ता। चाहे वह कोई भी द्रव्य हो उसका परिवर्तन अवश्य

---

१ जीवके असंख्यात प्रदेश हैं। और उन प्रदेशोंमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त लोकको अपने प्रदेशोंसे पूर्णकर सक्ते हैं। लोक पूर्ण अवस्था समुद्घातके कारण होती हैं। समुद्घात मूल शरीरको न छोड़कर आत्म प्रदेश किसी कारणसे शरीरसे बाहर निकलनेको कहते हैं और वे सात प्रकार हैं।

होगा, यह बात दूसरी है कि किसीकी अवस्था शीघ्र बदलती है और किसीकी कुछ समय बाद परंतु एक अवस्थारूप स्थिर कोई भी द्रव्य नहीं रह सक्ता। द्रव्यका स्वभाव परिवर्तनशील है।

स्वतः परिणमनमें भी द्रव्योंका संयोग दो प्रकार होता है—एक संततिरूप, दूसरा व्यतिक्रम। वृक्ष और बीजका परिणमन संयोग संततिरूप है, पुत्र और पिताका संयोग भी सततिरूप है—पितासे पुत्र, और पुत्रसे पिता, बीजसे वृक्ष, और वृक्षसे बीज इस प्रकार संयोग अनादि कालसे धाराप्रवाहरूप चला आता है इस संयोगमें यह नहीं कह सक्ते कि अमुक प्रथम था, क्योंकि तत्काल यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह किससे उत्पन्न हुआ? इस लिये यह संयोग पद्धति संतति रूप है। ठीक उसी प्रकार कर्म और संसारी जीवका सयोग संतति रूप अनादिसे है। और वह विभाव रूप सत्य है, और होनी ही ऐसा चाहिये क्योंकि प्रकृति धर्म इस प्रकार सँतति रूप परिणमनको धारण कर रहा है। जो लोग इस प्रकार नहीं मानते हैं उनके यहां वस्तु नाश और शून्यताका प्रसंग आयेगा, वह असंभव है। वस्तु स्थिति इस प्रकारके परिणमन विना रह नहीं सक्ती। इसलिये यह प्रमाण सिद्ध सत्य सिद्धान्त है कि संसारी जीवके साथ कर्मोंका अनादि-कालसे संयोग है। और इसी लिये जगत अनादि निधन है इस न्यायसे जगतको बनानेकी किसीको आवश्यकता नहीं रही। वह स्वतः सिद्ध अनादिकालसे चला आया है और अनतकाल व्यतीत होने पर भी कभी नाश नहीं होगा।

संसारी जीवके पांच भेद हैं—एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन

इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय । पांच इन्द्रिय जीवके दो भेद हैं मन सहित संज्ञी और मन रहित असंज्ञी ।

एक इन्द्रिय जीव उसको कहते हैं जिसके एक ही स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय हो जिसको हलका भारी, नरम कठोर, शीत उष्ण और रूखा चिकना, मात्र जाननेकी शक्ति हो । जैसे वनस्पति, अग्नि, पृथ्वी, जल, पवन कायके जीव । इनमें सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार हैं । वनस्पति साधारण और प्रत्येक दो भेदोंमें बटी हुई है । साधारण वनस्पति उसे कहते हैं कि-एक शरीरके आश्रय अनन्त जीव एक साथ रहकर एकसाथ समस्त श्वासोच्छ्वासादि क्रिया करें । कंद मूल आदि वनस्पतिमें साधारण जातिके जीव रहते हैं । प्रत्येक वनस्पति वह होती है जिसमें एक शरीरका एक ही मूल स्वामी हो । वह भी प्रतिष्ठित और अप्रष्ठित भेदसे दो प्रकार है । एक शरीरका एक स्वामी हो और उसके आश्रय बहुतसे निगोदिया जीव रहते हो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा जाता है और जिसके आश्रय अन्य निगोदिया नहीं रहते हों वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा जाता है । वनस्पति कायकी योनि दशलाख है । इस प्रकार वनस्पति कायके असंख्य भेद हैं ।

जलकायके जीव-उनको कहते हैं जिनका जल ही शरीर हो । जलके एक बिंदुमें जो असंख्य जीव दीखते हैं वे जलकाय नहीं है किंतु त्रस जीव हैं । जलकायका जीव अतींद्रिय होता है उसकी पर्याय मात्र जल है ; ये सब चार प्रकार होते हैं-जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव । जल वह पदार्थ है

कि जो शीत और द्रवत्वगुण लिये हो, ऐसा पुद्गल परमाणुओंका विकार और उसकी पर्यायको जलकाय कहते हैं। जिस जलमेंसे जलजीव निकल गया हो उसको जलकायिक कहेंगे। जैसे मृत मनुष्यका शरीर। जलकायमें रहनेवाला एक इन्द्रिय-स्पर्शन मात्र इंद्रिय धारक और जलकाय रूप अपने आत्मपदेशको धारण करनेवाला जलजीव है।

अनेक मनुष्य पानीको ही जलजीव मानते हैं यह उनकी भूल है। पानी जड पदार्थ है, अचेतन है, हां वह जलजीवकी काय और कायिक हो सक्ता है परन्तु वह स्वयं जलजीवरूप नहीं है। पानी छाननेसे त्रस जीव जो जलमें अपना वास करते हैं-रहते हैं (पानीमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म और स्थूल मछली आदि जीव रहते हैं) उनकी रक्षा होती है, यदि यत्नाचार पूर्वक जीवाणी (बिलछन) जहांकी तहांपर पहुचाई जाय तो। परन्तु जलजीवकी दया गृहस्थोंसे नहीं पल सक्ती, और न गृहस्थ इसका त्यागी भी है। वह जलजीव छाननेसे बाहर नहीं हो सक्ता है क्योंकि जलमात्र उसकी पर्याय है। यह बात दूसरी है कि जलसमुदायमेंसे थोडा पानी निकालनेसे वह जलजीव अपनी पर्यायको छोड़ जाता हो। और वह जल, जलकायिक रह जाता हो। कुछ भी हो, यह जैन सिद्धान्तसे विशेष निर्णेतव्य विषय है परन्तु यह निश्चित सिद्धांत है कि जिस समय जल जीव रहित होता है वह जल जड़ पदार्थ है।

कुछ मनुष्य यह समझते हैं कि जलको गरम करनेसे जलजीव उसमें ही मर जाते हैं और पीनेसे भी मर जाते हैं तो जलको गर्म क्यों करना चाहिये, मुनि ब्रह्मचारी गर्म जल क्यों पीते हैं। वे

लोग पानीके गर्म करनेके तत्वको बिलकुल समझे ही नहीं हैं। पानी योनिरूप द्रव्य है उसमें निमित्त मिलनेसे दूसरे असंख्य जीव उत्पन्न हो सक्ते हैं। पानीको छानकर तत्काल गर्म करनेसे जलमें अनेक अन्य जीव उत्पन्न होनेवाली योनि कुछ समयकी मर्यादाके लिये नष्ट होजाती है जैसे गेहूं चणा योनिरूप हैं–सचित्त हैं–निमित्त संयोग (मिट्टी पानी हवा और गर्मी) के मिलनेपर अंकुरित होसक्ते हैं–इनमें जीव उत्पन्न होनेकी शक्ति होजाती है। वैसे ही सचित्त जल भी जीव उत्पन्न होनेका स्थल है। जलको छाननेसे भी अल्प समयके लिये त्रस जीवोंकी दया अवश्य पल सक्ती है परन्तु सचित्तता नष्ट नहीं होसक्ती। हां कषाय द्रव्योंके संयोगसे वह अति अल्प समयके लिये नष्ट हो सक्ती है। दूसरे गर्म जल निरोग है। प्रकृति और इन्द्रियोंके अनुकूल है। जलको छाने विना कभी गरम नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे साक्षात् त्रस जीवोंका घात होता है और ऐसा जल पीनेसे मांस खानेका भी अतीचार स्पष्ट होता है। गरम पानीमें ठंडा पानी नहीं डालना चाहिये क्योंकि इससे भी वह जीव बाधा अवश्य होगी। इसलिये पानीको बिना छाने उपयोग नहीं करना चाहिये।

जिस प्रकार जलके चार भेद हैं उसी प्रकार पृथ्वी, तेज, वायु, वनस्पतिके भी चार चार भेद हैं। और इनकी योनी इस प्रकार–जलकाय ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, तेजकाय ७ लाख, पवनकाय ७ लाख और वनस्पतिकाय १४ लाख है।

एकेंद्रिय जीवके इंद्रिय बल आयु और श्वासोश्वास ये चार

प्राण होते हैं। इन प्राणोंसे ही इनकी जीवनावस्था होती है। ये जीव सम्मूर्च्छन[1] होते हैं इसलिये निमित्त कारण द्रव्य क्षेत्र कालकी योग्यता मिलनेपर ये स्वयं उत्पन्न होजाते हैं और बढ़ते हैं। इनके उत्पन्न होनेमें योग्य निमित्त ही कारण है।

दो इंद्रिय लट कुंथु आदि हैं ये भी संमूर्छन हैं। इनके पांच प्राण और भाषा होती हैं। इसी प्रकार तीन इन्द्रिय जीव चिंटी-चिंटा आदि होते हैं। चार इन्द्रिय जीव मक्खी, पतंग, भ्रमर, आदि हैं। पंचइंद्रिय जीवोंके दो भेद हैं-संज्ञी और असंज्ञी। जिनके मन है-विचार करनेकी शक्ति है वे संज्ञी पंचइन्द्रिय हैं और जिनके मन नहीं वे असंज्ञी हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यादि हैं इनके दश प्राण होते हैं। गाय घोड़ा आदि तिर्यंच हैं ये भी पंचेंद्रिय संज्ञी हैं।

समस्त जीव पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। पर्याप्ति छह हैं-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन। जो जीव इन पर्याप्तियोंको पूर्ण करे विना ही मृत्युको प्राप्त हो जांय वे अपर्याप्त हैं जिनके पर्याप्त नाम कर्मका उदय है वे पर्याप्त जीव कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवके चार पर्याप्ति होती हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असैनी पचइन्द्रिय जीवके पांच पर्याप्ति होती है और सैनी पचेन्द्रिय जीवके छह पर्याप्ति हैं। जिस समय

---

१ संमूर्छन, गर्भ, उत्पाद तीन प्रकार जन्म है। मातापिताके वीर्यके विना, निमित्त कारणसे उत्पन्न होनेको संमूर्छन जन्म कहते हैं। माता पिताके वीर्यसे उत्पन्न हो उसे गर्भ कहते हैं वह जरायुज, अंडज, पोत तीन भेदरूप है। उत्पाद शय्यासे जन्म उत्पाद कहलाता है।

जीव एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जाता है तब उसके योग्य पौद्गलीक नोकार्माण वर्गणाओंको ग्रहण करता है जिसके कारण प्राणोंकी रचना होती है ऐसे पुद्गल परमाणुओंकी आहार संज्ञा है।

औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस और कार्माण ये पांच शरीर हैं। औदारिक स्थूल शरीरको कहते हैं यह इन्द्रियगोचर होता है। वैक्रियिक शरीर—जिसमें कुछ विक्रिया हो सके—लघु, महान, स्थूल सूक्ष्म आदि अनेक प्रकार परिवर्तित होनके। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके औदारिक शरीरसे आत्मप्रदेश किसी शुभ कार्यके लिये बाहर निकलें तो उन आत्मप्रदेशोंके साथ रहनेवाले पुद्गल परमाणुओंको आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक आदि शरीरोंमें जो तेज दीख रहा है—कांति प्रकाशित है वह तैजस शरीर है, इस शरीर विना मुर्दा कांति हीन होजाता है। समस्त कर्मोंके समूहको कार्माण शरीर कहते हैं। संसारी जीवके एक साथ दो शरीर तो अवश्य ही रहते हैं। हां तीन और चार भी एक साथ रह सके हैं। जिस समय यह जीव[1] नवीन शरीर धारण करनेको गमन करता है—विग्रहगतिमें होता है तब इसके साथ अंतके दो शरीर तो नियमित रहते हैं और ये ही दूसरी पर्यायमें जीवोंको लेजाते हैं। नवीन शरीरके उत्पत्ति स्थान तक ये शरीर जीवको आकर्षित करते है जिससे यह जीव पुनर्जन्म धारण करता है। ये

---

[1] शुद्ध जीव—और शुद्ध पुद्गल १ एक समयमें चौदह राजु प्रमाण गमन करता है। विजलीकी द्रुतगतिको देखकर आश्चर्य करनेवालोंको जीव और पुद्गलकी शीघ्र गतिका पता लगेगा तो विजलीकी गति न कुछ मालूम पड़ेगी।

दोनों शरीर अभेद्य हैं, अनिवार्य हैं। ये दोनों शरीर प्रत्येक संगीन पदार्थोंको भेदकर निकल जाते हैं। इनको कोई रोक नहीं सक्ता। ये अत्यंत सूक्ष्म हैं परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणित हैं। ये इंद्रियोंसे दीखते भी नहीं। इनका संबंध जीवके साथ अनादि-कालसे है। जबतक इन शरीरोंका बंधन आत्माके साथ है तबतक वह संसारी है और समस्त कर्म बंधनसे मुक्त होनेपर यह जीव सीधा ऊर्ध्वगमन करता है।

जीव और पुद्गल द्रव्योंको गमन करनेमें बाह्य सहायता धर्म द्रव्यकी होती है। यद्यपि दोनों ही द्रव्योंमें स्वयं क्रिया करनेकी शक्ति है, तो भी उस शक्तिका उपयोग धर्मद्रव्यकी सहायतासे होता है। जैसे कि मनुष्यमें गमन करनेकी शक्ति है परन्तु पृथ्वीके आधार विना चल नहीं सक्ता, कुछ आधार अवश्य ही चाहिये। वह आधार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकार होता है। प्रत्येक द्रव्य उक्त दोनों प्रकारके आधारके विना गमन नहीं कर सक्ता। इस लिये द्रव्यको गमन करनेका आभ्यन्तर आधार स्वयं द्रव्य है और बाह्य आधार धर्म द्रव्य है और इन्हीं दोनोंके स्थिर रहनेका बाह्य आधार अधर्म द्रव्य है। धर्म और अधर्म (इनको पाप और पुन्य नहीं समझना चाहिये ये दोनो स्वतंत्र द्रव्य हैं) सर्वत्र लोकाका-शमें व्याप्त हैं। अखंड रीतिसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं।

समस्त कर्मोंसे रहित शुद्ध जीव जहां तक धर्म द्रव्य है, वहां तक गमन करता है और फिर धर्मद्रव्यके अभावसे वहीं पर स्थिर हो जाता है यह भाग लोकका अंत है। इसको सिद्धशिला भी कहते हैं। यहांपर वह अनंतानंत काल पर्यंत वैसी ही स्थितिमें

स्थिर रहता है। एकवार कर्मोका नाश करनेपर पुनः कर्म प्राप्ति नहीं होती—पुनः संसार अवस्था—जीवन मरणावस्था प्राप्त नहीं होती है इसी लिये वही जीवन शाश्वत है, नित्य है, अविनाशीक है, अव्याबाध है। इसमें पुनः-विकार नहीं होता। ऐसी शुद्ध आत्मा सदैव आत्मीक अनंत सुखको भोगती है निराकुलित रहती है समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष करती है—जानती है जिस प्रकार शालिके ऊपरसे फोतडा निकाल लिया जाय तो पुनः वह चावल किसी प्रकार अंकुरित नहीं हो सक्ता, ठीक इसी प्रकार कर्मबन्धनसे मुक्त आत्मा पुनः कर्मबन्धन वद्ध नहीं हो सक्ता। ईश्वरसे प्रेरित मोक्ष जीव पुनः संसारमें आता है ऐसा जो लोग मानते हैं वह उनकी धारणा भूलभरी है। फोतडा निकाले हुए चांवलोंका ऊगना नितान्त असंभव है ऐसे बन्धनरहित शुद्ध जीवकी वद्ध अवस्था होना नितान्त असम्भव है।

कोई ऐसा विचार करते हैं कि मोक्षमें कुछ काम नहीं होनेसे और स्त्रीपुत्रादि नहीं होनेसे क्या सुख मिलता होगा? ऐसे मनुष्य सुखको ही नहीं जानते। सुख वस्तुकी असली स्थिति प्राप्त होनेमें है। दादके रोगीको दाद खुजानेमें सुख नहीं है वह तो रोग वृद्धि है किन्तु दादके मिट जानेमें—असली स्थिति प्राप्त होनेमें सुख है। सुखका अर्थ निराकुलता है—चिन्ता रहितपना है। जहांपर कुछ भी आकुलता—चिन्ता है वहांपर सुख सामग्री और सब कुछ साधन होनेपर भी सुख नहीं है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। जिस इन्द्रियजन्य सुखको सुख मानते हैं वह आकुलता पूर्ण है, चिन्ताओंसे अति व्याप्त है।

दादकी खुजालसे होनेवाला सुख मधुर है, क्षणिक है–तलवारकी धारपर शहत (मधु) लपेटनेके समान है–क्षण सुख देनेवाला और चिर दु खदाई है–कल्पना मात्र है। सुखरूप नहीं होनेपर भी जीवने सुख मानलिया है। यथार्थ सुख नहीं है। पर पदार्थोंसे यथार्थ सुख होता ही नहीं। सुखका मूल बीज स्वात्मा है। पर पदार्थ तो और उलटे दु.खके कारण हैं। जिन स्त्रीपुत्रादि पर पदार्थोंको सुखरूप कहते हैं वे सुखके कारण नहीं है। सुख आत्माका धर्म है। स्त्री पुत्रादि होनेपर जीना मरना, आधि व्याधि, दरिद्रता और आशाका महान दुःख है–क्षण क्षण आकुलता है–चिन्ता है इसलिये सुख इनसे जुदा है। उसका नाश नहीं होता है। उसका प्रवाह अनंत है। वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखता. उसके लिये बाह्य साधनोंकी अवश्यकता नहीं, उसके लिये कुछ करना नहीं पडता है, वह आत्माका अक्षय और अनंत भंडार है। वह पूर्ण स्वतंत्रतासे प्राप्त होता है। उसके सामने विश्वका सुख अत्यंत तुच्छ है। वह विशाल है। वह विश्वको तृप्त कर सक्ता है। अभेद्य है, अबाध है, नित्य है, पूर्ण है, परम आल्हादक है, प्रेमका पुंज है, निरुपम है, निर्विकार है, पवित्र है, निर्भय है, निरामय है, निर्द्वन्द्व है, दिव्य है, अतुल है, आनन्दमय है, शांतिमय है, ईर्षा द्वेष राग क्रोध, मान, लोभ, माया, मोह आदि विकार रहित है, स्वच्छ है, निराकुलित है, निश्चिन्त है और सर्वोत्कृष्ट है। भला ऐसे आत्मीक सुखमें दोष देना कितनी मूर्खता है ? कितनी भारी अज्ञानता है ! क्या काम करनेमें ही सुख होता है ? काम करना यह आकुलता है। और

आकुलतामें सुख नहीं यह तो स्पष्ट है।

जीवका यह स्वरूप समझकर समस्त जीवोंको अपनी आत्माके समान समझना चाहिये और उनको सर्व प्रकारसे निराकुल करना चाहिये—उनके दुःखोंका नाश करनेमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। उनकी अज्ञानता दूरकर उनको सन्मार्गमें लगाना चाहिये, समस्त जीवोंकी विशुद्ध हृदयसे दया पालन करना चाहिये। उनको किसी प्रकारका कष्ट न हो ऐसा अपना व्यवहार रखना चाहिये। अपना व्यापार—अपने कर्तव्य, अपनी वृत्ति और अपना चाल चलन ऐसे हो कि जिससे किसीको दुःख न हो, मानसीक पीड़ा न हो, किसी जीवके ज्ञानादि गुणमें घात न हो इसीका नाम सदाचार है।

जीव पदार्थको जान लेनेसे ही जीवदया अच्छी तरह पालन हो सक्ती है। जीव पदार्थको जाने विना जीवदया पालना असंभव है, दुसरे जीव पदार्थको जाने विना जीवोंको क्या करना चाहिये? जीवकी सच्ची भलाई किस मार्गसे हो सक्ती है? जीवका स्वरूप कैसा है? वर्तमान समयमें कैसी अवस्था है? दुःखोंका प्रतीकार किस प्रकार होगा? सदाचार किस प्रकार धारण करना चाहिये? हिंसादि पंच पापोंसे कितनी हानि होती है? पतितावस्थाका कारण क्या? काम क्रोधादि शत्रु हैं या मित्र? पुत्र, मित्र, कलत्र इत्यादिकोंके साथ क्या संबंध है? जगतके जीवोंके प्रति क्या करना चाहिये? अपनी आत्म भलाईके लिये क्या क्या करना चाहिये, आदि कुछ भी ज्ञान नहीं हो सक्ता है और न मोहरूपी गाढ अंधकारका ही नाश हो सक्ता है। आत्मज्योतिकी

दिव्य तेजस्वी किरणें जीवका स्वरूप जाने विना नहीं प्रकाशित हो सकीं, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको जीवका स्वरूप जाननेके लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिये, अध्यात्म जीवनको अपना ध्येय समझना चाहिये, आत्मोन्नतिको ही उन्नति माननी चाहिये। अपना लक्ष्य सदैव पवित्र और उन्नत हो इसलिये अपनी आभ्यंतर और बाह्यवृत्ति पवित्र होनी चाहिये। क्रोध लोभ मोह माया आदि विकारोंको जीतनेके लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। जीवदया पालन करनेमें तन मन और धनसे कटिबद्ध रहना चाहिये। आत्म धर्मके विकाश करनेमें सच्चा परोपकार होता है।

यहां पर यह लिखना अनुचित नहीं होगा कि आत्माकी आभ्यंतर वृत्तिकी पवित्रता बाह्य वृत्तिकी पवित्रतासे ही होती है। जबतक बाह्य व्यवहारमें पवित्रता नहीं है—बाह्य आचरण पवित्र नहीं है तो आभ्यंतर पवित्रता होना असमव है। नित प्रति होने वाले व्यवहारमें, घरके कार्यमें, खानपान आदि आचरणमें, व्यापार और प्रत्येक आरंभमें सद्विवेकका रखना, शुद्ध चाल आचरणोंका रखना, सदाचारका रखना सचमुच कल्याण करनेवाला है, ऐसा नहीं है कि ऊपरी झूठी सफेदाई हो और आचरण निंद्य हों।

यह भी स्मरण रखिये कि आभ्यंतरवृत्ति—मानसीक विचारोंपर बाह्य आचरणोंका बहुत गहरा असर होता है। जिस प्रकार भोजनका पचाव धीरे २ होता है उसी प्रकार बुरे आचरणोंका असर कभी २ धीरे होता है, परन्तु महा भयंकर होता है।

अल्प विष भी शरीरके अंदर कितना कार्य करता है। अल्प औषधी असाध्य रोगीको—मरणासन्न रोगीको कितनी आशाका संचार

करती है? मद्य सेवनसे कैसी अवस्था होजाती है? अशुद्ध भोजन और असदाचारसे अविवेक पूर्वक खानपान भी ऐसा बुरा असर करता है कि जिसका परिणाम महा भयंकर होता है। उच्छिष्ट भोजन, नीच मनुष्यके हाथसे बनाया हुआ भोजन, निंद्य आचरण-वाले पुरुषोंके साथ किया हुआ भोजन छूत रोगोंके समान आत्म वृत्तियोंमें तत्काल ही रोग उत्पन्न कर देता है—विकार कर देता है। जैसा अन्न भक्षण किया जायगा वैसी ही बुद्धि और आत्म प्रभावना होगी। मलिन वस्त्र, मलिन जल और मलिन भोजन, ये सब मात्र रोग ही उत्पन्न नहीं करते किन्तु विचारोंको मलिन बनाते है। इसलिये भोजनकी शुद्धिकी—सदाचारकी सबसे प्रथम परमावश्यकता है।

बाह्य शुद्धि सदाचारका बीज है—बाह्य आचर-णोंका संस्कार सूर्यकी प्रभाके समान तत्काल असर करता है, मद्यपान, मधुपान, मांस भक्षण और जिसमें अनंत जीव हों ऐसे पदार्थोंका भोजन भी शीघ्र ही बुरा असर करता है। प्रकृतिको क्रूर और निर्दय, बुद्धिको दया रहित, भावनाको स्वार्थी, शरीरके रक्तको गरम, दांत और जीभको तांद्रिक करता है। जिस कुलमें ऐसे पदार्थोंका भक्षण होता हो, अथवा हुआ हो, ऐसे पुरुषोंके साथ पंक्ति भोजन करनेसे भी वही असर आत्मा पर होता है। यह न समझना चाहिये कि एक नीचकुलमें एक मनुष्यने निंद्य पदार्थोंका भोजनका छोड़ दिया तो उसके साथ भोजन करनेमें कुछ हानि नहीं। वीर्य दोष—रक्तविकार कितनी ही पीढ़ी (वंश परिपाटी) तक असर करते हैं, कोढ़ादि विषम रोग संतान प्रति संतान चला जाता

है। कुलका असर भी अनेक पीढ़ी बाद पूर्ण शुद्ध होता है। इस लिये शुद्ध भोजन, विशुद्ध संगति, शुभाचरण और स्नानादि, आत्मभावनाको पवित्र बनानेवाले हैं। और ये सर्व बाह्य सदाचार हैं।

सदाचार पालन करनेके साधन अनेक होते हैं, हिंसादि पंच पापोंका त्याग, सप्तव्यसनोंको छोड़ना, परोपकार करना, सबकी भलाईमें अपनी भलाई समझना और ऐसे कार्य करना सब सदाचार है। इसलिये मूर्तीक और अमूर्तीक जीव स्वरूपको जानकर सदाचार पालन करना चाहिये।

जो मूर्तीक है वह पुद्गल है। जिसके रूप, रस, गंध और स्पर्श हो वह पुद्गल है। रूप पांच प्रकार है—काला, पीला, लाल सफेद, नीला। समस्त पुद्गल मात्रके मूल पांच रंग होते हैं। हां उनके भेद अभेद अनंत हैं। रस भी पांच हैं। खट्टा, मीठा, तिक्त, कषायला, कटुक। ऐसा कोई भी पौद्गलिक पदार्थ नहीं है जिसमें किसी प्रकारका रस न हो। सुगंध और दुर्गंध, गंधके दो भेद हैं। स्पर्श आठ प्रकार है—कठोर, मृदु, रूक्ष, स्निग्ध, लघुभारी, उष्ण और शीत। पुद्गल मात्रमें ये आठ स्पर्श होते हैं। ये बीस गुण जिसमें हों वह मूर्तीक है। पुद्गलद्रव्य उक्त गुण होनेसे मूर्तीक है।

पुद्गलके अनंत भेद हैं। जगतमें पुद्गल परमाणु सर्वत्र खचाखच हुए है। स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि इनका निमित्त कारण मिलनेसे स्वयमेव होती है। जल, पृथ्वी, पवन, वनस्पति, बिजली, शब्द, छाया, उद्योत, प्रभा, ज्योत्स्ना आदि सब पुद्गल हैं। पुद्गल परमाणुओंका परिवर्तन—परिणमन अत्यंत आश्चर्यकारक और विलक्षण है। कच्चा आम हरा होता है परन्तु पकनेपर पीला होजाता है इस

प्रकार पुद्गलके गुणोंमें भी परिवर्तन होता है। वनस्पतिके परमाणु पृथ्वीरूप होते हैं। लकड़ीको जलानेसे भस्म पृथ्वीरूप होती है। और पृथ्वीके परमाणुओंका परिवर्तन वनस्पतिरूप होता है, जलरूप होता है। इस प्रकार यह परिणमन समय समय पर निरंतर होता ही रहता है परंतु गुणोंका नाश कभी नहीं होता। गुण नित्य हैं अतएव द्रव्य भी नित्य है (जो लोग पृथ्वी, जल, वायु आदिको भिन्न २ पदार्थ मानते हैं वह उनकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही भूल है) इसी प्रकार शब्द आकाशका गुण मानते हैं यह भी बहुत भारी भूल है। आकाश अमूर्तीक है उससे मूर्तीक शब्द कैसे उत्पन्न हुआ? शब्दका मूर्तिपना उसके कार्यसे—(शब्द रुकता है विजलीके संसर्गसे गमन करता है दो पौद्गलीक पदार्थोंसे उत्पन्न होता है, फोनोग्राफमें चिपकता है इत्यादि पुद्गलके कार्य हैं) प्रत्यक्ष है, उसको आकाशका गुण कहना कैसी हसीकी बात है। इसी प्रकार वायुको अमूर्तीक मानना भूल है। वायुका स्पर्श होता है। जिस वस्तुका स्पर्श है वह पुद्गल द्रव्य है।

पुद्गलके अणु और स्कंध दो भेद हैं। स्कंधके देश, प्रदेश, विभाग असंख्य भेद हैं। पुद्गलकी शक्ति अचिन्त्य है—महान आश्चर्यकारक है। मेघवृष्टि, उल्कापात, विद्युच्छक्ति, धूप, छाया और प्रकाश आदि समस्त कार्य पुद्गलके हैं। पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति होनेसे स्वाभाविक और वैभाविक उभय प्रकार विकार क्रिया होती है॥ ११—१२॥

मुख्य द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव अजीवके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गलका संक्षिप्त ऊपर कहा जाचुका।

धर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायता करता है। अधर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलको ठहरानेमें सहायक है। आकाश द्रव्य—समस्त पदार्थोंको स्थान देता है—अवकाश देता है—समस्त द्रव्य आकाशमें स्थित हैं। यह सब द्रव्योंसे महान् और विस्तृत है—अनंत है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जितने आकाशमें धर्मादि द्रव्योंकी स्थिति है वह लोकाकाश है और केवल आकाश मात्र अलोकाकाश है। ये तीनों द्रव्य अखंड हैं, निष्क्रिय हैं, अमूर्तीक हैं, समस्त पदार्थोंके उदासीन सहायक हैं। इनके संयोगसे अन्य जीव पुद्गलादि क्रिया करते हैं, पर्याय धारण करते हैं, अवस्थान्तरको प्राप्त होते हैं परन्तु ये तीनों स्वयं क्रिया रहित हैं।

काल द्रव्य—द्रव्योंके परिणमनमें मुख्य उदासीन कारण काल द्रव्य है। काल विना कोई द्रव्य परिणमन या क्रिया नहीं कर सक्ता। घटना बढ़ना और अवस्थान्तरोंका होना—नाश होना, उत्पन्न होना, सत्तासे अवस्थित होना, आदि द्रव्यकी समस्त अवस्थाओंमें काल मुख्य कारण है। एक द्रव्य एक देशसे देशांतर होती है तो उसमें भी समय निमित्त भूत है। एक द्रव्य परिणमन करता है तो उसमें भी समय निमित्तभूत है। यह समयकी निमित्तता ही कालकी मुख्यताको स्पष्ट सिद्ध करती है। चावलोंका भात हुआ, यहांपर यद्यपि चावलोंमें भात होनेकी शक्ति है, और उस शक्तिको विकाश करनेके लिये जैसे अग्नि-पानी आदि अनेक द्रव्योंकी आवश्यकता है—अनेक साधन चाहिये तथापि सब कुछ होनेपर भी चावलोंकी भात अवस्था होनेके लिये समय अवश्य चाहिये। अन्यथा

क्रिया नहीं हो सकेगी। बालकसे वृद्ध, नयेसे पुराना, आदि प्रत्येक अवस्थामें कालकी अपेक्षा है। इसी लिये जो द्रव्योंको वर्तन कराता है—परिणमनमें आधारभूत होता है, क्रिया करनेमें उदासीन सहकारी होता है, मर्यादा करनेमें नियामक होता है, वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य अनंत समयात्मक है, एक प्रदेशी है। भिन्न भिन्न कालाणु रूप असंख्यात द्रव्य रूप है, अमूर्त है। लोकाकाश पृथक् २ कालाणुओंसे व्याप्त है।

काल द्रव्यके दो भेद हैं—व्यवहार और निश्चय काल। घडी—घंटा, समय और प्रहर आदिके भेदसे व्यवहार काल है यह निश्चय कालका साधक है। द्रव्योंके परत्वापरत्व और परणमनमें सहायक है। निश्चय काल—वर्तना लक्षण है, द्रव्योंके परिणमनमें कारणभूत है।

इस प्रकार द्रव्योंके छह भेद हैं। इनका श्रद्धान करना, स्वरूप जानना, उपादेय भूतोंको ग्रहण करना, हेयभूत पदार्थोंका त्याग करना आत्म कल्याणके लिये आवश्यक है॥ १४-१९॥

जीव और अजीव पदार्थोंका यह स्वरूप जिनागममें कहा है।

आस्रव—कर्मोंके आनेके कारणोंको आस्रव कहते हैं। आस्रव जीव पदार्थमें अंतर्गत नहीं हो सक्ता क्योंकि वह सचेतन नहीं है और न अजीव पदार्थमें ही अंतर्गत है, क्योंकि अजीव पदार्थमें राग द्वेष रूप परिणमनेकी शक्ति नहीं है—बंधके कारणकी शक्ति नहीं है। इसलिये आश्रव दोनों द्रव्योंसे पृथक् द्रव्य है। यथार्थमें—यह जीव और अजीवके मिश्रित होनेसे तृतीय अवस्था है। दोनों द्रव्योंके संयोगसे एक विशेष पर्याय उत्पन्न हुई है।

इसको न तो जीव कह सके और न अजीव। यह मिथ्या-दर्शनादि रूप भावास्रव है दूसरा द्रव्यास्रव, मन, वचन और शरीरकी क्रिया द्वारा आत्म प्रदेशोंके हलन चलन रूप होता है। जो नवीन पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रगट होती है उसीको द्रव्यास्रव कहते हैं। आस्रव द्रव्य और भाव भेदसे दो प्रकार है। कर्मोंके आने योग्य आत्माके परिणाम राग द्वेष रूप सचिक्कण होना वह भाव आस्रव है। और मन वचन कायकी विकृति होना जिससे आत्म प्रदेशोंमें परिस्पंदता हो, क्रिया हो, पुद्गल परमाणु (कर्म) ग्रहण होते हों वह द्रव्यास्रव है।

जिस प्रकार एक नावमें छिद्र द्वारा पानी आता है, ठीक उसी प्रकार मन वचन और काय योग द्वारा कर्म आते हैं अतएव ये आस्रव हैं।

आस्रव दो प्रकार है- अशुभ और शुभ।

अशुभास्रवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये कारण हैं।

मिथ्यात्व—अतत्व श्रद्धानको कहते हैं। पदार्थोंके विपरीत स्वरूप—असत्य स्वरूपको सच्चा मानकर विश्वास करना मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व दर्शन मोहनी कर्मके उदयसे होता है। दर्शन मोहनीय कर्मका सच्चे देव, शास्त्र, और गुरुमें मिथ्यादूषण लगाने आदि कारणोंसे बन्ध होता है। मिथ्यात्व समान दुखकर और कोई जगतमें पदार्थ नहीं है। संसार बंधनका मुख्य कारण मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वके पांच भेद हैं—विपरीत, एकांत, विनय, संशय

और अज्ञान। विपरीत मिथ्यात्व—समस्त पदार्थोंमें अनंत धर्म है। पदार्थोंका स्वरूप बाह्यमें कुछ और ही दीखता है। जीवका स्वरूप अमुर्तीक, शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी है, परन्तु संसारी जीवकी वर्तमान अवस्था इससे विपरीत होरही है। जीवकी अवस्था ऐसी क्यों हो रही है इस संबंधी ज्ञान न होनेसे शरीर—पंच भूतको ही जीव मानना और ऐसा श्रद्धान करना। पुत्र मित्र भाई आदि यद्यपि प्रत्यक्ष भिन्न है उनको अपने मानना, शरीरके सुख दुःखमें आत्म दुःख सुख मानना, कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुको सच्चे देव, शास्त्र, गुरु समझना इत्यादि अनेक प्रकार पदार्थोंकी विपरीत अवस्थाको सत्य मानकर विश्वास करना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है।

अनंत धर्मात्मक वस्तुओंको किसी एक धर्म रूप मानकर श्रद्धान करना—विपरीत मिथ्यात्व है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु नित्य हैं क्योंकि कभी किसी वस्तुका नाश नहीं होता है। अपेक्षा छोड़कर वस्तुका सर्वथा नित्य ही श्रद्धान करना अथवा अनित्य ही मानकर विश्वास करना, एक धर्ममें ही विश्वास रखना, हठ रखना, एकान्तता रखना यह सब एकान्त मिथ्यात्व है।

पदार्थके सत्य स्वरूप और असत्य स्वरूप सांचे झूंठे सबहीमें एकसा विश्वास रखना—विनय मिथ्यात्व है। विनय मिथ्यात्वी धर्म अधर्म, देव कुदेव, अहित और हित सबको एकसा मानता है और सबकी समान पूजा करता है।

पदार्थोंके स्वरूपमें संशय करना संशय मिथ्यात्व है। केवलीको कवलाहारी कहना, केवलीके स्वरूपमें संशय करना, धर्मके फलादेशमें संशय करना आदि इसके कार्य हैं।

मिथ्यात्व कर्मके प्रबल उदयसे पदार्थोंके सच्चे स्वरूपमें अज्ञानता रखना, पदार्थोंके स्वरूपको ही नहीं समझना–अज्ञान मिथ्यात्व है। यह महा भयंकर है। मिथ्यात्व मात्र संसार बंधनका कारण है और पदार्थ स्वरूपमें अन्यथा श्रद्धान करना इसका कार्य है। मिथ्यात्वके समान संसारमें अहितकारी कोई नहीं है–दुःखकर नहीं, इसलिये मिथ्यात्व विषको वमन करनेका उपाय निरंतर करते रहना चाहिये।

अविरति–मन और इन्द्रियोंको वशमें न करना, और त्रस स्थावर जीवोंकी दया न करना संयमसे न रहना, सदाचार नहीं पालन करना, अयत्नाचारसे स्वच्छंद रहना आदि सब अविरतिके कार्य हैं।

प्रमाद–के भेद १५ हैं। आत्म–धर्म पालन करनेमें प्रमाद करना, संयमके धारणमें आलस करना, आभ्यंतर वृत्तियोंको पवित्र रखनेमें हतोत्साह रहना, आत्मभावनामें असावधान रहना, प्रमाद है। राजकथा, चौरकथा, स्त्री कथा और भोजन कथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, निद्रा और पांच इन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें ममत्व भाव करना ये प्रमादके भेद है और इनके भेद प्रभेद बहुत हैं।

कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेदरूप हैं। परन्तु इनके उत्तर भेद सोलह हैं। नो कषाय नव हैं, सब मिलकर २५ भेद कषायके होते है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ–जो कषाय आत्माके सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र गुणको घात करे, जिसके उदयसे आत्मा अपने आत्मधर्म च्युत होजाय,

अपने असली स्वरूपके अनुभव करनेमें असमर्थ हो वह अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ है। जिसके उदयसे एक देश चारित्रको आत्मा नहीं धारण कर सके वह अप्रत्याख्यानावरण और जिसके उदयसे सकल चारित्र नहीं धारण कर सके वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ है। जो कषाय यथाख्यात चारित्रको न होने दे वह सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ है। नो कषाय उसे कहते हैं जो थोड़े रूपमें आत्माके गुणोंका घात करे। वह हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद इन नौ भेदोंवाला है। कुल २९ प्रकार कषाय है।

इस प्रकार अशुभ आश्रव उपर्युक्त चार प्रकारके कारण कलापोंके होनेसे, मन वचन काय योगके द्वारा होता है।

शुभ आस्रव—सामायिक, जिन-शास्त्र-गुरु पूजन, जीव दया, सदाचार धारण, संयममें तत्परता, परोपकार, निष्कषायपना, निर्मोहीपन, आत्म भावना, दशधर्मका पालन करना, रत्नत्रयका आराधन, धर्मका विकाश करना, परिणामोंकी शुभ कार्योंमें स्थिरता, हिंसादि पंच पापोंका त्याग करना आदि कारणोंसे शुभ आस्रव होता है।

चाहे शुभास्रव हो अथवा अशुभास्रव, परन्तु वह शुभाशुभ भावोंसे, आत्म परिणामोंसे, तीव्र-तीव्रतर, मंद मंदतर कषायोंसे, शुभाशुभ संकल्प, ज्ञात और अज्ञात कार्यके सेवन करनेसे, अपनी शक्तिसे और निमित्त कारणोंकी अनुकूलतासे विशेषरूप होता है। मनमें, तीव्र रागद्वेषसे और बुरे भावोंसे किसीका अनिष्ट सोचना ही तीव्र बंधका कारण है और एक मनुष्यका

अजानपनेसे, अनिष्ट होगया हो, तो मंद बंधका कारण है इसी प्रकार और कारण आस्रवके फलमें विशेषता करते हैं। इसलिये सदैव दूसरोंकी बुराईसे, निंदासे, हिंसासे—अनिष्टसे डरते रहो, सदाचार और संयम धारण करनेमें प्रयत्नशील रहो, परोपकार करनेमें लवलीन रहो, आत्म चिंतनमें अनुरक्त बनो, दया पालनेमें कटिबद्ध रहो, सत्य वचन प्यारा और मीठा कहो, तभी कुछ स्वोपकार और परोपकार होसकेगा ॥१६॥

बंध—कर्म और आत्म प्रदेशोंके परस्पर मिल जानेको, एकमेक हो जानेको, एक क्षेत्रावगाही हो जानेको बंध कहते हैं।

बंधके भेद चार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश। जिस प्रकार मेघका पानी नीव, ईख, कुटकी, इमली, आदि पदार्थोंमें भिन्न २ प्रकारका रस उत्पन्न करता है। भिन्न २ प्रकृतिवाले पदार्थोंके संयोगसे भिन्न २ प्रकृतिरूप पानीका स्वभाव परिणमन हो जाया करता है, ठीक उसी प्रकार भिन्न २ कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंका बनजाना यही प्रकृति बन्ध है। अर्थात् ज्ञानादि घात करनेका स्वभाव परमाणुओंका हो जाना यही प्रकृति बंध है। प्रकृति आठ हैं। जो परमाणु अपना स्वभाव ज्ञानावरणी कर्मरूप करले, ज्ञान गुणका आवरण करले, आत्माके ज्ञान आच्छादित करले ऐसी शक्ति परमाणुमें उत्पन्न हो जाय वह प्रकृति बन्ध है।

स्थितिबंध—कर्मकी वह प्रकृति कितने समय रहेगी। उन (प्रकृतिरूप परिणवे परमाणुओंका) कर्म परमाणुओंका आत्माके साथ कितने काल पर्यन्त संबन्ध है? इस प्रकार उनमें कालकी मर्यादा होना स्थितिबन्ध है।

अनुभागबंध—जो कर्म[1] आत्माके साथ संबंधित हुए हैं, आत्म प्रदेशोंके साथ एकरूप परिणवे हैं उनमें फलदान शक्तिका प्रादुर्भाव होना अनुभागबंध है। जिस प्रकार ईश्वररूप परिणया पानी मीठापनेको देता हैं, अपना कार्य करता है। इमली खट्टा रस प्रदान करती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीरूप परिणवे पुद्गल परमाणु आत्माके ज्ञानगुणको तरतमरूपसे प्रकाशित नहीं होने देते—ज्ञान गुणको ढक लेते है, जिस प्रकार बादलोंसे सूर्यका प्रकाश ढक जाता है, इसी प्रकार आत्माका ज्ञान ढक जानेसे आत्मा अल्पज्ञानी होजाता है। कर्मोंके विपाकको ही अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेशबंध—सिद्ध राशिसे अनंत गुणित और जीव राशिसे अनन्तमें भाग पुद्गल स्कंधोंको आत्म प्रदेशोंके साथ सम्बन्ध होना प्रदेशबंध कहलाता है। प्रदेश नाम परमाणुका है। कितने परमाणुका बन्ध हुआ इसीका नाम प्रदेशबन्ध है।

बन्धकी अवस्था ठीक भोजन पाकके समान है। जिस प्रकार भोजन कैसे भावोंसे चर्वण किया जायगा, जैसा भोजन चर्वण किया जायगा, जिस अवस्थापर चर्वण किया जायगा, जिस ऋतुमें चर्वण किया जायगा, वैसा ही फल प्रदान करेगा।

---

[1] कर्म आठ हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनी, मोहनी, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। प्रत्येक कर्मके बंध होनेके कारण भिन्न २ हैं। ज्ञानावरणी कर्मके कारण किसीको ज्ञान होनेमें विघ्न करना, पुस्तक फाड देना, ज्ञानको छिपा लेना, प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगाना, ज्ञान शालाओंको बंद करना आदि है।

जिस प्रकार भोजन पाकमें रस, मज्जा, धातु और मलादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कर्मोंमें भिन्न २ शक्ति होती है, कोई ज्ञानावरणी, कोई दर्शनावरणी आदि।

जिस प्रकार वातभोजन पेट फुला देता है, वायु करता है, मिष्ट भोजन कफ करता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणी ज्ञानको आच्छादित करता है, दर्शनावरणी दर्शनको नहीं होने देता।

जिस प्रकार भोजन अपना रस देकर पाक होकर मल, मुत्र और स्वेदादि द्वारा झर जाता है-निर्जरा हो जाता है उसी प्रकार कर्म भी अपना फल देकर निर्जर जाते हैं। अन्न जिस प्रकार सचेतन प्राणियोंमें अपना असर करता है-मुर्दा अन्न नहीं पचा सक्ता, कर्म भी सचेतन संसारी प्राणीपर अपना असर करते है। कुपथ्य अन्न जिस प्रकार अधिक विकार करता है उसी प्रकार मिथ्यात्व और असंयम भी अधिक विकार करता है। भोजनकी सावधानी न रखी जाय तो विशेष दुःखकर होता है, कर्मोंकी सावधानी न रखी जाय तो विशेष दुःखके कारण होजाते हैं। इसलिये ऐसा न समझ लेना चाहिये कि कर्म जड हैं। वे भिन्न २ प्रकृतिके कैसे होते हैं? उनमें भिन्न २ फल दान शक्ति कैसे होजाती है? वे किस प्रकार संबधित होसक्ते है? इत्यादि शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है, जड पदार्थोंमें भी अपार शक्ति होती है। हां चेतना शक्ति नहीं हो सक्ती। कर्म अपना फल देकर निर्जरा हो जाते हैं। जिस प्रकार भोजनका पाक हुए बिना ही उसे वमन द्वारा बाहर निकाल सक्ते हैं, उसी प्रकार कर्मोंकी निर्जरा भी योग्य तप द्वारा बिना फल दिये हुए हो सक्ती है। ऐसी निर्जराको

अविपाक निर्जरा कहते हैं । चार बन्धोंसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध मन, वचन और शरीरकी उपयोगात्मक क्रियासे–मन, वचन और कायके योगोंसे होते हैं । अनुभाग और स्थितिबंध कषायोंसे होते हैं । क्योंकि कषायें आत्म परिणामोंको कुटिल करती हैं, सचिक्कण बनाती हैं, विशेष रसोत्पादक शक्ति प्रदान करती है ।

बंधके मुख्य दो भेद हैं–भाव और द्रव्य, और वह शुभाशुभ भेदसे है। आत्माके कषाययुक्त परिणामों (भाव) में विकार होनेसे कर्मादान शक्ति प्रादुर्भाव होती है और उस शक्तिसे कर्म आत्माके प्रदेशोंके साथ एकमेक होते हैं । उस शक्तिका उत्पन्न करना ही भाव बन्ध है । और आत्म प्रदेशोंके साथ कर्मोंका एकमेक होजाना–दूध पानीके समान परस्पर मिल जाना यह द्रव्यबंध है । यों तो बंधके चार भेद हैं परन्तु अनेक आत्माओंके भिन्न२ परिणाम होनेसे और भिन्न २ कषायोंका उदय होनेसे बंधके असंख्यात और अनंत भेद हैं ॥१७॥

जिस प्रकार कर्मास्रव संसारका विशेष कारण है, उसी प्रकार संवर भी संसारके अभावका मुख्य कारण है ।

संवर–आते हुए कर्मोंका रोकना, नवीन कर्मबंधका अभाव–आस्रवका निरोध संवर है ।

संवर भी दो प्रकार होता है–द्रव्य संवर और भावसंवर । आत्माके ऐसे उच्च महान भाव कि जिन भावोंमें आते हुए कर्मोंके रोकनेकी शक्ति उत्पन्न होगई हो, उसको भाव संवर कहते हैं । व्रत पालन करना, मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तिको रोकना, समिति पालना, और उत्तम क्षमादि दश धर्म धारण करना

आदि कार्योंके करनेसे आत्माके परिणामोंमें (भावोंमें) वह शक्ति स्वयं उत्पन्न होजाती है। द्रव्य संवर—उपर्युक्त कारण कलापोंसे मन वचन कायकी अशुभ क्रिया रुक जाती है—मन और इन्द्रियोंका निग्रह होजाता है, तब कर्मोंके आनेके द्वार बंद होजानेसे आत्म प्रदेशोंके साथ उन कर्मोंका सम्बन्ध नहीं होता है। इसीको द्रव्य संवर कहते हैं॥ १८॥

निर्जरा—संचित कर्मोंकी तप, ध्यान और सदाचार द्वारा निर्जरा करना—कर्मोंका आत्मासे दूर होजाना निर्जरा है। एक देश कर्मोंका आत्मासे अलग होना ही निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार है—भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। आत्माके भावोंमें ऐसी शक्तिका उत्पन्न होना कि जिससे संचित कर्म अपना फल दिये विना अथवा फल देकर नष्ट होजांय वह भाव निर्जरा है। और उन कर्मोंका नाश होना—एक देशादिरूप क्षय होना द्रव्य निर्जरा है।

सविपाक और अविपाक ऐसे निर्जराके और भी भेद हैं। जो कर्म अपना फल देकर अपने कालानुसार नष्ट होजांय, वह सविपाक निर्जरा है। और जो फल देकर असमयमें कर्मोंका क्षय होजाना वह अविपाक निर्जरा है। आमको विना पके ही उतारकर पालामें पका सक्ते हैं। और समय आनेपर वह वृक्षपर ही पक जाता है तब स्वयं गिर पड़ता है। इसी प्रकार कर्मोंकी निर्जरा भी उभयरूप होती है। सविपाक निर्जरा गृहस्थोंके होती है और अविपाक निर्जरा मुनियोंके होती है॥ १९॥

मोक्ष—समस्त कर्मोंसे अत्यंत दूर होजाना, वह ऐसी

अवस्था है कि जिसमें कर्मोंके अत्यंताभावसे आत्मा परम विशुद्ध होकर निज स्वभाव—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुखमें मग्न रहता है।

द्रव्य और भाव मोक्षके भेदसे मोक्ष भी दो प्रकार है। भाव मोक्ष उसे कहते हैं कि आत्माके जिन विशुद्ध भावोंमें समस्त कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति उत्पन्न होगई हो और द्रव्य मोक्ष वह है कि आत्मासे समस्त कर्म सर्वथा छूट जांय। इस प्रकार सात तत्वोंका स्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवानने निर्दोष और प्रमाण-भूत सत्य कहा है, उसका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। जब-तक यह सम्यग्दर्शन धारण नहीं होता तबतक न तो सम्यग्ज्ञान ही होसक्ता है और न सदाचार ही धारण किया जाता है। आत्म कल्याणकी आदि श्रेणी सम्यग्दर्शन है। इससे संवर निर्जरा और मोक्ष होसक्ती है इसलिये सर्व प्रयत्नसे इसको धारण करे ॥२०॥

इन सात तत्वोंका श्रद्धान श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको मान्य कर करना चाहिये। क्योंकि जीवादिक तत्व अति सूक्ष्म हैं—इन्द्रिय-गोचर नहीं है, इसलिये किसी प्रकारकी शंका करे विना ही विशुद्ध भावोंसे इनके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इन तत्वोंके लक्षणमें—स्वरूपमें किसी प्रकारकी बाधा, विरोध नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे और युक्ति प्रयुक्तियोंसे एक भी तत्व जरासा भी बाधित नहीं होता, इसका भी कारण यह है कि जिनेन्द्र प्रभु सर्वज्ञ हैं और वीतराग हैं इसलिये उनके ज्ञानमें वस्तु तत्व प्रत्यक्ष हस्तामलक समान सत्य२ प्रतिभाषित होता है और जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही उनने प्रतिपादन किया है,

इसका कारण यह यह है कि जिनेन्द्र प्रभु वीतराग हैं—उनके राग, द्वेष, माया और मोहादि विकार नहीं हैं. लोभ नहीं है, किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, कुछ भी स्वार्थ नहीं है, क्रोधादि विकार नहीं है, प्रपंच नहीं है जिससे वे कुछ प्रयोजनवश असत्य प्रतिभाषित कर सकें। इसलिये जिनाज्ञाको सर्वमान्य और प्रमाणभूत समझ कर श्रद्धान करना ही आत्मकल्याण करना है।

कदाचित् वस्तु स्वरूपमें कुछ शंका हो तो प्रमाण, नय और युक्तियोंद्वारा निर्णय करना चाहिये। हां वस्तु स्वरूप समझनेमें निःपक्ष, निरभिमानी होना चाहिये, किसी स्वार्थवश हठ ग्रहण नहीं करना चाहिये और न कुतर्कोंसे अपनी उद्धतता प्रकट करनी चाहिये। वस्तु स्वरूप समझनेमें शान्त, जिज्ञासु—सौम्य, निष्पक्ष, निरभिमान, निराग्रह, निःस्वार्थ, विवेचक, तर्कशील और प्रमाणसिद्ध वस्तुके माननेमें उत्साही, प्रेमाल और वितंडाशील न होकर पदार्थ जाननेका भावुक होना चाहिये। पदार्थोंके स्वरूपका मनन करना चाहिये पुनः पुनः विचारशील होना चाहिये। जो पदार्थ समझमें नहीं आवे उसको विद्वानोंसे समझनेमें तत्पर होना चाहिये। सत्यके ग्रहण करनेमें हठी न बनना चाहिये। अपनी युक्तियोंको ही सर्वमान्य न मानकर सरल बुद्धिसे तत्व निर्णय करना चाहिये। ऐसा न हो कि बुरे विचार और कुतर्कसे द्वंद मचाओ—शांति और धैर्यसे काम लेना ही तत्व जिज्ञासा है। हां पदार्थोंके स्वरूप समझनेमें पीछे न हठो, अपनी युक्तिको समक्षकर दूसरी युक्तिको सुनो, विचार करो, पुनः स्थिर रहो तभी वस्तु स्वरूपका सम्यक निर्णय होगा। वस्तु स्वरूप निर्णय अति विनीत भावसे

और निष्पक्षपात बुद्धि रखकर प्यारे मीठे वचनोंसे होना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वस्तुको यथार्थ स्वरूपमें जानना सम्यग्ज्ञान है। जो ज्ञान स्वपर प्रकाशी हो, निर्दोष हो, निश्चयात्मक हो वह सम्यग्ज्ञान है।

संशय ज्ञान—जो ज्ञान परस्पर विरुद्ध उभय कोटिमें रहता हो, वह संशय है जैसे यह चांदी है कि सीप ? यहांपर चांदी और सीपमें बाह्य चाकचक्यादि धर्म समान होनेसे परस्पर विरुद्ध दोनों धर्ममेंसे एक धर्मका भी निश्चय नहीं है। दोनोंमें ही संदेह है, भ्रम है, अनिश्चय है, ऐसे ज्ञानको संशय ज्ञान कहते हैं।

विपर्यय ज्ञान—जो ज्ञान विरुद्ध कोटिमें निश्चयात्मक रूपसे रहे वह विपर्यय है। जैसे चांदीमें सीपका निश्चय होना अर्थात् चांदीको सीप मानना। यहांपर चांदीसे सीप बिलकुल भिन्न पदार्थ है, परन्तु कुछ धर्म समान मिलते हैं (चकचकाट आदि धर्म समान मिलते हैं) इसलिये जिसका ज्ञानसे निश्चय हुआ है वह पदार्थ वास्तवमें नहीं होनेपर भी अन्य पदार्थमें उस पदार्थका निश्चयकर लेना, उलटा निश्चय करना, विपर्यय है। शरीरको ही जीव मानना यह भी विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय—जिस ज्ञानमें किसी भी वस्तुका निश्चय न हो वह अनध्यवसाय ज्ञान है। जैसे चलते समय पैरमें कुछ लग गया, यहांपर किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं है क्या लगा ? कुछ निश्चय ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानको संशय नहीं कह सके, क्योंकि परस्पर विरुद्ध उभय धर्ममें ज्ञानकी तुलना नहीं है।

उभय गत ज्ञान नहीं है। और न परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी ऊहापोह रूप उभय धारा होती है। यह ज्ञान विपर्यय भी नहीं है क्योंकि इसमें किसी एक धर्मका भी निश्चय नहीं है। यह तो तीसरा ज्ञान है जिसमें कुछ भी निश्चय नहीं है। ऐसे मिथ्याज्ञानत्रय रहित, स्वात्म और पर प्रकाशक, निर्दोष, साकार और निश्चयात्मक ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं—जो पदार्थोंको स्पष्ट जाने, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार है—मुख्य प्रत्यक्ष और व्यवहार प्रत्यक्ष। जो आत्मा द्वारा किसीकी सहायता विना पदार्थोंको स्पष्ट जाने वह मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है, और जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे पदार्थोंको स्पष्टरूप जाने वह व्यवहार प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाणके पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। पूर्वमें अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण होना स्मृति है जैसे यह जिनदत्त है। पूर्वमें अनुभवित पदार्थोंका स्मरण और वर्तमान कालमें दर्शन उभयका जोडरूप जो ज्ञान वह प्रत्यभिज्ञान है जैसे—यह वही जिनदत्त है। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार होता है। कारणके होनेपर कार्योंका होना और कारणोंके नहीं होनेपर (अभाव) कार्योंका भी अभाव होना, इस प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान—व्याप्तिज्ञान—तर्क है। जैसे—अग्निके होनेपर ही धूम होता है, और जहांपर अग्नि नहीं है वहांपर धूम भी नहीं है। साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान होना। सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शास्त्र ज्ञानको आगम कहते है। इस प्रकार प्रमाणका यह संक्षिप्त स्वरूप है। पदार्थोंका निर्णय उक्त प्रमाणसे ही करना चाहिये।

नय—वस्तुके अंशात्मक ज्ञानको नय कहते हैं। नय अनंत हैं। सब धर्मोंका एक साथ विवेचन नहीं कहा जासक्ता, एक समयमें एक धर्मका ही प्रतिपादन हो सक्ता है। अवशेष धर्म पदार्थमें विद्यमान रहते हैं, परंतु उस समय उनकी अपेक्षा न रखकर अविरोधसे किसी एक धर्मकी अपेक्षासे हेतुपूर्वक वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करना नय है। नयोंसे पदार्थ सिद्धि होती है। नय विना वस्तुस्वरूप सिद्धि हो नहीं सक्ती—वस्तु स्वरूपका विचार हो नहीं सक्ता। वस्तु स्वरूप अवाच्य है। जिस समय वस्तुमें परस्पर दो विरुद्ध धर्मोंका समावेश होता है उस समय उस वस्तुके एक धर्मकी अपेक्षा न कर वक्ताकी इच्छानुसार दूसरा धर्म कहा जा सक्ता है, परंतु दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ प्रतिपादन नहीं हो सक्ते, एक मनुष्य अपने पुत्रका पिता है और अपने बापका पुत्र है, दोनों ही विरुद्ध धर्म एक समय उसमें उपस्थित हैं। अब जिस समय उसको पिता कहते हैं तब उसमें पुत्रत्व धर्मको कहनेकी अपेक्षा नहीं रहती है। इससे यह न समझना कि वह धर्म लोप होजाता है, किन्तु उसकी विवक्षा नहीं है इसी लिये पिता पुत्र दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ अवक्तव्य हैं।

वस्तु मात्रमें अनंत धर्म स्वभावसे होते हैं, उनकी सामान्य विशेषता ही उनको व्यक्त करती है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें सामान्य विशेषात्मक अनंत धर्म न हो। यदि जीव द्रव्यको ही देखा जाय तो जीव द्रव्यमें भी सामान्य विशेष धर्म मौजूद है, हां वक्ताकी अपेक्षासे सामान्य धर्म भी विशेष रूप होजाता है और विशेष सामान्यरूप होजाता है। यदि चेतनत्व धर्मकी दृष्टिसे पदा-

र्मका स्वरूप देखा जाय तो संसारी और सिद्ध जीव इस धर्मके अंत-र्गत होसक्ते हैं और मनुष्य जीव कहनेसे अवशेष धर्मकी अपेक्षा नहीं की जा सक्ती है। सामान्यापेक्षा जीव द्रव्यमें अस्तित्व, वस्तुत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्व, प्रमेयत्व नित्यत्व, प्रदेशत्व आदि अनेक धर्म हैं। तथा संसारी जीवापेक्षा भी मूर्तत्व, अनित्यत्व, नरनारकादि पर्यायत्व आदि अनंत अवस्थायें तथा गुणोंकी अपेक्षा अनंत धर्म हैं–द्रव्यका मुख्य लक्षण गुण समुदाय है। उन गुणोंको शक्ति, धर्म, स्वभाव आदि नामसे कह सक्ते हैं। गुण भिन्न २ स्वभाववाले होते हैं और एक एक द्रव्यमें अनंत गुण रहते हैं। एक साथ उन धर्मोंका–गुणोंका प्रतिपादन होना अशक्य है इसी लिये किसी एक धर्मको विशेषकर और अवशेष धर्मकी अपेक्षा न कर वस्तुका स्वरूप वर्णन करना नय कहलाता है। शब्द भेदसे वाच्य भेद होता है क्योंकि जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके अर्थ होते हैं। इसलिये शब्द भेदमें भी नय भेद हो जाता है। जिस प्रकार इन्द्र, मघवा, सहस्राक्ष, आखंडल, सुरपति आदि सब शब्द इन्द्रके वाचक हैं, और वे भिन्न २ गुणोंके कारण हुए हैं परन्तु पदार्थ एक ही है। जो ऐश्वर्यवान है वह इन्द्र है, जिसके हजार नेत्र हैं वह इन्द्र है, जो ज्ञानवान है वह इन्द्र है, जो देवताओंका पति है वह इन्द्र है। यहांपर वस्तुके पृथक् पृथक् गुणोंके कारण उसके पर्यायवाची शब्दोंसे इन्द्र कहा गया है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इन्द्र कहते समय अवशेष धर्म इंद्रमें न हों, परन्तु उनकी अपेक्षा नहीं होती है इसलिये जिस एक धर्मसे वस्तु कही जाती है वह नय है।

नयके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इसका कारण यह है कि वस्तुका पूर्ण स्वरूप द्रव्य और उसकी पर्यायके मिलनेपर होता है। ऐसा नहीं है कि वस्तुकी एक पर्याय मात्र कहनेसे उसका पूर्ण स्वरूप होगया। मनुष्य जीव कहनेसे जीवका पूरा लक्षण नहीं होजाता, किन्तु एक पर्यायका विशेष वर्णन होता है। जीवका पूरा लक्षण उसकी सर्व अवस्थाएँ और उसके सर्व गुणोंको कहनेसे होती है। इसलिये पूर्ण रूपसे वस्तुका ज्ञान प्रमाणका कार्य है किन्तु द्रव्य और पर्यायके पृथक् २ अंशोंका जानना नयका कार्य है इसी लिये द्रव्य और पर्याय पृथक् २ विषय होनेसे नयके भी दो भेद हैं।

द्रव्यार्थिक नय—द्रव्य वस्तुको तथा वस्तुके एक सामान्य धर्मको कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुके उस सामान्य धर्मका प्रतिबोध होता है जो वस्तुके समस्त अंशोंमें अविशेषसे व्याप्त रहता हो अर्थात् वस्तुका **सामान्य धर्म** द्रव्यार्थिक नयका विषय है। जैसे आत्माको नित्य कहना। इसके तीन भेद हैं शुद्धार्थ संग्राही, अशुद्धार्थ सग्राही और उभयात्मक। जिस वस्तुके सामान्य धर्ममें अन्य वस्तु धर्मकी मिलावट न हो वस्तुका शुद्ध धर्म हो वह शुद्धार्थ संग्राही द्रव्यार्थिक नय है। जैसे—जीवका अमूर्तत्व। जिस सामान्य धर्ममें अन्य वस्तु धर्मका संयोग हो वह अशुद्धार्थ संग्राही द्रव्यार्थिक नय है जैसे ससारी जीवका मूर्तत्व। और जो उभय मिश्रित हो उसे उभयात्मक द्रव्यार्थिक नय कहते हैं जैसे संसारी जीवके रागादि भाव।

पर्यायार्थिक नय—वस्तुके पृथक् १ विशेष धर्मोंको प्रति-

पादन करता है। द्रव्योंमें काल–शब्दादि कारणोंसे विशेषता होती है उस विशेषताका होना ही पर्यायार्थिक नय है। इसके बहुत भेद हैं।

अथवा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात भेद नयोंके हैं।

नैगम नय–वस्तुमें पर्याय प्राप्त होते ही योग्यता मात्रको देखकर (चाहे वह पर्याय वर्तमानमें निष्पन्न न हो तो भी) उसको पर्याय युक्त मानना नैगम नयका विषय है, जैसे एक मनुष्य भात पकानेके साधनोंको एकत्रित कर रहा था तो भी उसको पूछा कि क्या कर रहे हो ? भात पकाता हूं। यहांपर भात पर्याय सिद्ध नहीं होनेपर भी योग्यता मात्रमें उसका व्यवहार किया है एवं भावी पर्यायको, वर्तमानमें कहना नैगम नय है।

संग्रह नय–स्वजातिके धर्मोका परस्पर विरोध ग्रहण न कर और वस्तुके उत्तर भेदोंको एकत्व भावनाशश एक रूप कहना संग्रह नय है जैसे द्रव्यत्व, सत, जीवत्व, आदि धर्म उत्तर समस्त भेद प्रभेदोंमें अविरोधसे व्याप्त होकर भी समस्त वस्तुको ग्रहण करते हैं।

व्यवहार नय–सग्रह नयसे संग्रहीत किये हुए पदार्थोंमें अविरोधसे विधि पूर्वक विभाग करना व्यवहार नय है जैसे जीव, संसारी और मोक्ष। संसारी जीव–त्रस, स्थावर।

ऋजुसूत्र–पदार्थकी ठीक वर्तमान समयकी पर्याय मात्रका ग्राही ऋजुसूत्र है। वर्तमान समयसे कालका एक सूक्ष्म समय ग्रहण करना चाहिये। यद्यपि ऐसे अल्प समयमें पदार्थोंकी

पर्यायका परिणमन दृष्टिगोचर नहीं होता है, तो भी पदार्थ प्रति समय परिणमन करता है और एक समय पदार्थकी जो पर्याय है वही विषय ऋजुसूत्र नयका विषय है। यह न समझना कि क्षण क्षण पर्याय नहीं परिणती है। ओदन पर्यायादि क्षणः प्रतिक्षण विकृत होती है।

शब्द नय–पदार्थोंका बोध शब्दोंसे होता है। पदार्थोंकी लिंग, संख्या, साधनादि भिन्न २ हैं। कोई पदार्थ पुलिंग है तो कोई स्त्री लिंग, कोई पदार्थ एक है तो कई अनेक हैं, इसलिये पदार्थोंकी लिग, संख्या, गति, काल, साधन पृथक् २ हैं। पदार्थोंकी ऐसी व्यवस्था होनेसे पदार्थवाची शब्दोंमें भी वही क्रम उपयोग होता है अतएव शब्दोंमें भी लिंग संख्या साधनादि विषय होते हैं। शब्दोंकी पद्धति तीन प्रकार होती है। सामान्यार्थग्राही रूढिसे अर्थग्राही और क्रियार्थग्राही। शब्दार्थोंमेंसे लिंग, संख्या, साधनादि दोषोंको दुरकर शब्दज्ञान करना शब्द नयका विषय है जैसे स्त्री अर्थके द्योतक दारा, कलित्र और स्त्री। इन तीनों शब्दोंके पुलिंग नपुंसक लिंग और पुलिगादि पृथक् २ लिग होनेपर स्त्री पर्यायके द्योतक होते हैं। इससे यह न समझना चाहिये कि जो शब्दका लिंग है वही अर्थका हो, या अर्थका लिंग–शब्दका लिंग हो, किन्तु शब्द प्रक्रियासे शुद्ध शब्दोंका अर्थ, कर्ता, लिंग, वचन, उपग्रह साधनादि विषय शब्द नयसे होता है। वाक्यरचना व्यवहाराधीन भी होती है वह इसके नहीं है।

समभिरूढ नय–यह नय भी शब्दविषयक है। कितने ही शब्द अनेकार्थवाची होते हैं। किन्तु शब्द मात्रोंका रूढिवाला

प्रसिद्ध अर्थ प्रायः एक ही होता है, क्योंकि एक पदार्थकी रूढि-व्यवहारमें एक ही होसक्ती है अन्यथा उसको रूढि न कहकर अनेकार्थ विधार्थी कहेंगे। जैसे गोशब्दके पृथ्वी, सूर्य, गाय अनेक अर्थ हैं, तो भी गोशब्दकी रूढि गाय ही है और यह रूढि-प्रसिद्ध है। अनेकार्थोंकी विवक्षाको तजकर एक रूढि अर्थमें नियामक होना समभिरूढि नयका विषय है। यह भी अनेक प्रकार होता है। एक पदार्थके भिन्न२ शब्द उस पदार्थद्योतक हों यह भी इस नयका विषय है।

एवंभूत नय—कितने शब्द धातुओंसे (प्रकृति—प्रत्यय) बनते हैं। धातुका जो शुद्धार्थ हो तदनुसार उस पदार्थकी क्रिया होती है हो तो ही उस शब्दार्थका प्रयोग करना एवंभूत नयका विषय जैसे। गोशब्द गम्लृ—गतौ धातुसे गच्छतीति गौः—गमन करे, वह गाय ऐसा अर्थ बोध होता है परन्तु रूढिसे गोशब्द पशुविशेषका द्योतक है। एवं भूत नयका विषय यह होगा कि जिस समय गाय गमन करती होगी उसी समय वह उसको गाय कहेगा, बैठी सोतीको नहीं, अथवा शब्दार्थके द्योतक क्रियासे उसको वैसा कहना, अथवा ऐसा ज्ञानविषयक आत्माको उस रूप कहना एवंभूत नय है।

इन नयोंका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म है, परन्तु ये नय परस्पर सापेक्षता रखते हैं, व्यस्तनय एकांतरूप होनेसे मिथ्या हैं।

पदार्थोंके जाननेके लिये, जिस प्रकार प्रमाण नयकी अपेक्षा है उसी प्रकार-गुण और पर्याय जाननेकी भी आवश्यक्ता है।

पदार्थोंके गुण दो प्रकार हैं—स्वभाव और विभाव। द्रव्यकी

शुद्ध अवस्थामें जो गुण हैं वे स्वभाव गुण हैं, और संयोगसे होनेवाले गुण वैभाविक हैं।

पर्याय स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकार है। स्वभाव पर्याय द्रव्योंमें रहनेवाली अगुरुलघुत्व शक्ति है जिसके संयोगसे द्रव्य परिणमनशील होता है। विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, विभाव गुण व्यंजन पर्याय, स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय आदि पर्यायोंके असंख्य भेद हैं। जीव और पुद्गल द्रव्योंमें ही व्यंजन पर्याय होती है।

अर्थ पर्याय धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्यके होती है।

प्रमाण, नय, द्रव्य, पर्यायादिसे[1] वस्तु स्वरूप सम्यग्ज्ञान होता है। और व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्यायसे द्रव्य परिणामी कहलाता है। द्रव्यका लक्षण सत् है। द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावको सत् कहते हैं। द्रव्य अपनी सत्ताकर सदा स्थिर है, नित्य है परन्तु उसकी अवस्था बदलती रहती है और उसका कारण द्रव्यमें स्वभाव, विभाव, अर्थ, व्यंजन, पर्याय परिणमनेकी शक्ति है। इसप्रकार तत्वोंको सम्यक्प्रकार जानकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन ही सदाचारका मूल बीज है। पदार्थोंको श्रद्धान करे विना—विश्वास करे विना तत्वोंपर रुचि नहीं होती और पदार्थोंमें रुचि हुए विना उपादेय पदार्थोंको ग्रहण करनेकी जिज्ञासा नहीं होती न हेय पदार्थोंसे त्याग बुद्धि होती

---

१ नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपद्वारा भी वस्तु स्वरूप सम्यग्ज्ञान होता है।

है जिससे अपना हित और अहित समझा जाय। अपना हित जाने बिना आत्म कल्याण नहीं होसक्ता, इसलिये आत्महितार्थ सम्यग्दर्शनको बीज समझना चाहिये। सदाचार सम्यग्दर्शन होनेपर ही होसक्ता अन्यथा वह असदाचार ही है ॥ २१ ॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये २५ दोषोंको छोड देना चाहिये। मोतीकी विशुद्धि उसके दोष दूर करनेसे होती है। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि दोषोंके त्याग करनेसे होती हैं। आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष ये पचीस सम्यग्दर्शनके दोष हैं। जिस प्रकार वात पित्त कफमें दोष होनेसे व्याधि शांत नहीं होती उसी प्रकार उक्त दोषोंके होनेसे तत्व श्रद्धानमें पूर्ण रुचि नहीं होती है, दोषोंके कारण मलिनता रहती है। और जबतक आत्म परिणामोंमे मलिनता है तबतक आभ्यंतर विशुद्धि नहीं होती, मलिन पदार्थ पर रंग नहीं चढता। मलिन परिणामोंमें सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं रह सक्ता, इसलिये दोषोंको छोड़ देनेमें ही सदाचारकी वृद्धि है ॥२२॥

कुल, जाति, तप, धन, ज्ञान, वीर्य, ऐश्वर्य और शरीर इनका अभिमान करना आठ मद कहलाते हैं।

कुलमद–पिताके वंशको कुल कहते हैं। वर्ण चार हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शुद्र। कुलका–अपने वंशका अभिमान करना अनर्थका कारण है क्योंकि अभिमान बिना रागद्वेषके उत्पन्न नहीं होसक्ता, रागद्वेषादि विकारोंका होना असदाचार है–संसार पद्धति है, पतितावस्था है। इस जीवने अनादिकालसे चतुर्गति संसारमें भ्रमणकर अति क्षुद्रसे क्षुद्र और नीचसे नीच अवस्था

बहुतवार पाई है, जिसमें रहकर सदाचारका लक्ष तक नहीं रहा। अब मुझे यह उत्तम कुल मिला है इसका मुझे सदुपयोग करना चाहिये। व्रत पालना, सदाचार धारण करना, और सत्कार्य आदि करना चाहिये न कि मांस मदिरा आदि अभक्ष भक्षण करना, जीव हिंसा करना, हिंसामयी व्यापार करना, अभक्ष भक्षणके कारण सदैव क्रूर परिणाम रखना, स्वार्थमें लिप्त रहना, आभ्यंतर वृत्तिमें मलिनता रखना आदि बुरे विचार न होने देना ही उत्तम कुल पानेकी सार्थकता है। आत्मा अमूर्तीक है, पवित्र है। उत्तम कुलको पाकर मुझे पवित्र बनना चाहिये। ये मेरे जीव मात्र सर्व बंधु हैं, सबकी आत्मा समान हैं इसलिये अभिमान नकर उत्तम निमित्तोंसे आत्मकल्याण करें। यद्यपि आत्मा अमूर्त है, कुलादि संसार व्यवहार है इसलिये उच्च कुलका अभिमान न करना चाहिये। तथापि ऐसा न समझना कि कुलादि संसार व्यवहार बिलकुल ही झूंठा है व्यर्थका प्रपंच है, वर्ण व्यवस्था और उच्च कुलादि प्रथा ढोंग है क्योंकि उन्नति, सद्विचार और सदाचारका मुख्य कारण व्यवहार है। व्यवहारका असर सद्विचारोंपर गहरा पड़ता है। निंद्य व्यवहार–कुत्सित प्रवृत्ति आदिका सहयोग आत्म विचारोंपर गहरा असर करता है। और व्यवहार प्रवृत्ति वर्णाधीन होती है। जैसा कुल (वर्ण) होगा वैसी ही व्यवहार प्रवृत्ति होगी। ऐसा न समझना कि बाह्य प्रवृत्तियोंका आत्म विचारोंपर असर न होता हो। निंद्य वचन, विष मात्रा, बुरी संगति, कुत्सित भोजन, और कुलकी प्रवृत्तिकी असर छूतके रोग समान आभ्यंतर प्रवृत्तिके दूषित करनेके लिये तत्कार

उपयोगी होते हैं। जिस प्रकार रक्त विकार, वीर्य दोष, कोढ़ादि विषय व्याधि प्रति संतान चली जाती है उसी प्रकार कुलागत (वर्ण व्यवस्था) धर्म भी वंश परम्परातक चला जाता है उसका असर जाता ही नहीं। एक मनुष्यने मांस मदिरापान छोड़ दिया और वह नीच वर्णका मनुष्य है तो ऐसा न समझना कि उसकी वह प्रवृत्ति नष्ट होगई और सदाचारका पात्र होगया। हां थोड़े अंशोंमें वह शुद्ध है, किन्तु चिरकालकी गंध उसके विचारोंकी परीक्षा समय ढीलाकर देती है इसी लिये उत्तम कुल यद्यपि सदाचारका मुख्य कारण है, सद्विचारकी भूमि है तो भी उसका अभिमान न करना और सदाचार पालन कर उसकी शोभाको बढ़ाना है।

जातिका भी अहंकार न करना चाहिये। माताकी पक्षको जाति कहते हैं। जितने उत्तम वर्णकी माता होगी उतने ही गृहस्थोंके सदाचार उत्तम और निरवद्य होंगे। माताका असर गर्भस्थ बालकपर गर्भ धारण समयपर ही होजाता है। इसी लिये वर्ण व्यवस्था नियमोंमें माताके उत्तम विचार और श्रेष्ट आचरण संतानमें प्राप्त होनेके लिये ऋतु समय त्रिवर्णाचार आदि ग्रन्थोंमें कितना बतलाया है कि बालककी आत्माके साथ सम्बंधित माताके कर्तव्य, माताके श्वासोश्वासके साथ प्रतिक्षण जाते हैं। दूसरे उत्तम जातिकी माताकी बाह्य प्रवृत्ति, खानपान, गृह संस्कार, सदाचारसे परिपूर्ण होनेसे बालक भी वैसे ही संस्कार पूर्ण होता है। नैपोलियन बोनापार्टकी माताके विचार वीरतापूर्ण थे, बालक भी वैसा ही हुआ। चितौडकी रानियोंकी माताके विचार सुशील थे उनकी संतान भी सुशील (पतिव्रता) निकलीं, मर गईं परंतु शीलभंग

नहीं किया। जिस माताके कुलमें नियोग धर्म होता होगा, असदाचार होता होगा, खान पानकी शुद्धि होती न होगी उसकी संतान भी प्रायः असदाचारी ही निकलती है। इसलिये उत्तम जातिका पाना शुभोदयसे है परंतु उसको पाकर अभिमान न करो, कदाचारोंसे विगाड़ मत दो, उसकी महिमा सदाचार, श्रेष्ठ प्रवृत्ति, और उत्तम कार्यसे करो, सदाचारका मिलना महान दुर्लभ है। राज्यसंपत्ति, धन, आदि पदार्थ मिल भी सके हैं परंतु सदाचार और सत्कार्य प्रयत्न करनेपर भी अति कठिनतासे प्राप्त होते हैं। उत्तम जाति अनेक वार मिली, परंतु उसका उपयोग एक वार भी नहीं किया, उत्तम पदार्थको पाकर व्यर्थ खोदेना अथवा उसके अभिमानमें कर्तव्य शून्य होजाना श्रेष्ठ नहीं, परन्तु यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि जैसा सहयोग, जैसे आचारवालोंकी संगति और जैसे सदाचारी कुलमें जन्म होगा उसका असर मरणपर्यंत रहेगा ही। हां कुछ समयके लिये वह विकार न करे। कुछ रोग ऐसे हैं कि कुछ समयके लिये शांत होजाते हैं, पुनः प्रादुर्भाव होजाते हैं और पुनः शांत होते हैं परन्तु उनका असर मरणपर्यंत जाता नहीं। ऐसे ही वर्ण, कुल जाति आदिका असर उसको, उसकी संतानको मरणपर्यंत जाता ही नहीं। ज्ञान प्राप्तिसे भले ही एक नीच मनुष्य मदिरा आदि खानपानको बुरा कहे परन्तु रोग आदि आपत्ति और दूसरे अनिवार्य कारण आजाने पर परीक्षाके समय उसका ज्ञान व विचार नष्ट होजाता है। उत्तम जातिमें वर्तमान कुल संबंधी श्रेष्ठ आचार विचारोंका, शुभ प्रवृत्तियों तथा खानपानका असर होता है और परजन्मकृत संस्कारका असर होता है

इसलिये वर्णव्यवस्थाके अनुकूल उत्तम जातिमें जन्म लेना सदाचारकी विशुद्धिके लिये सबसे प्रथम आवश्यक है।

बहुतसे लोग ऐसा विचार करते हैं कि भोजनकी शुद्धिसे सदाचारका कोई सम्बन्ध नहीं? और मनुष्यमात्र एकसे हैं उनके साथ भोजन करनेमें क्या हानि? परन्तु वे शारीरिक तत्वको नहीं जानते और न सदाचारके अभिप्रायको ही समझे हुए हैं। एक अरुविष शरीरमें कितना असर करता है। छूत रोगीके साथ खानेसे क्यों व्याधि लग जाती है? बुरी हवाका सहयोग भी हानिप्रद होता है। उच्छिष्ट और नीच मनुष्योंके साथ पंक्ति भोजन करनेसे प्रेमवृद्धि नहीं होती, प्रेम सदाचारका फल है। यदि सच्चा सदाचार आत्मामें है तो प्राणीमात्र पर अखूट प्रेम अविचल रहेगा। उच्छिष्ट खानेवाले और एक धर्म, एक जातिवाले जर्मन और इंग्लैण्डमें युद्ध क्यों हुआ? अनंत प्राणियोंकी हिंसा, द्वेष और भयानक अत्याचार क्यों हुए? उनमें प्रेम क्यों नहीं जागृत हुआ? प्रेम सदाचारका फल है। यदि सदाचार होगा तो प्रेम अनिंद्य होगा। रोगीका उच्छिष्ट भोजन शीघ्र ही हानि करता है। जिनके संस्कार इस जन्म तथा परलोककृत ठीक नहीं अवश्य उनके साथ भोजनादिसे, श्वासोश्वाससे और सहवाससे असदाचार प्रवृत्ति होगी। उत्तम जाति पाकर सदाचार उत्तमतासे धारण करो और व्यर्थका अभिमान न कर समस्त जीवोंको सदाचारमें लगाओ इसीसे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होगा।

इसी प्रकार ज्ञानका अभिमान न करना चाहिये। ज्ञानको पाकर उसका दुरुपयोग न करो। ज्ञानका दुरुपयोग-सच्चे ज्ञानमें

-दूषण लगाना, प्रसंशनीय और आदर्श ज्ञानियोंकी अश्लील शब्दोंमें (आत्मप्रशंसा और कुछ स्वार्थके लिये) निंदा करना, पक्षपातसे कुत्सित आग्रह धारण करना, विषय कषाय और असदाचारप्रवर्तक लेख लिखना, असद्विचारमें लीन रहना, कुतर्कसे सद्विचार कर-नेमें कायर होना आदि ज्ञान पानेका दुरुपयोग है—अभिमान है। ज्ञानका मिलना महान् दुर्लभ है। जीवनावस्थाका सार ज्ञानके साथ सदाचार धारण करना है। हित अहित, भलाई बुराई, सन्मार्ग कुमार्ग आदि ज्ञानसे ही जाने जाते हैं। इसलिये ज्ञानका सदुपयोग करना ही ज्ञानकी निरभिमानता है।

ज्ञानका सदुपयोग—सद्विचारसे तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करना, सच्चे ज्ञानके कारणोंकी वृद्धि करना, वाचनालय खोलना, पाठशाला खोलना, शास्त्रोंका जीर्णोद्धार कराना, शास्त्रकी महिमा प्रसिद्ध करनी, सच्चे ज्ञानका विस्तार करना, पदार्थोंके जाननेमें प्रेम करना, ज्ञानी विद्वानोंका विशुद्ध अन्तःकरणसे सन्मान करना, जीवोंकी अज्ञानता दूर करना, सच्चे ज्ञानमें मिथ्यापवादको दूर करना, धर्मोपदेश देना, जीवोंकी भलाईका मार्ग निस्वार्थ वृत्ति और निष्कपटसे बतलाना, सन्मार्गमें लगाना; कुतत्वज्ञान, विषयवासना पोषक ज्ञान, असदाचारी ज्ञान और विकार ज्ञानसे जीवोंको निका-लकर विशुद्ध प्रेम सच्चे ज्ञानकी महिमा तन, मन, धन और बुद्धिसे प्रत्यक्ष कर बतलाना ही ज्ञानका उपभोग है। सच्चे शास्त्रोंका पठन-पाठन तत्व विवेचन, और ज्ञान प्रभावना इसके कार्य हैं। इस-लिये ऐसा करना चाहिये कि जिससे अपना और अनंत जीवोंका कल्याण हो और ईर्षा-द्वेष और अज्ञान नष्ट हो जाय, सब जीव

मात्रको आत्मबंधु समझकर उनको ज्ञानी बनानेमें ही ज्ञानका उपयोग किया जाय तो ज्ञान पाकर भी निरभिमानता होती है।

ऐश्वर्य मद—धन—संपत्ति पुण्योदयसे प्राप्त होती है और उसका मिलना दुर्लभ है। संपत्ति मिल जाय तो उसका अभिमानकर अन्य जीवोंको क्लेशित करना, असदाचारी होना, स्वच्छंदतासे भले बुरे काम करना, निंद्य आचरण धारण करना, शराब आदि अभक्ष पदार्थोंका सेवन करना, मनमाने पापाचरण करना, वृद्धावस्थामें पुनर्लग्न करना, विषय कषायोंमें धनका दुरुपयोग करना, पात्रमें दान नहीं करना, सत्कार्यमें व्यय नहीं करना इत्यादि सब धनका अभिमान है। आत्मा नित्य है, अपने आत्म स्वभावसे अनंत सुख सहित है, परम आनंद और परम शांतिमय है जब कि धनसंपत्ति पर पदार्थ हैं। पुण्य कर्मके संयोगसे इनका संबंध होता है और वह संबंध जब तक पुण्योदय है तब तक रहता है—मरणके बाद साथ नहीं जाता, उससे सुख तलवारकी मारके समान होता है। पर पदार्थमें मोह करना संसार बंधन और दुःखका कारण है। कदाचित मोहनीय कर्मके उदयसे बाह्य संपत्तिसे प्रेम न छूटे तो उसको पाकर अत्याचार न करो, असंख्य पापाचरण शिर पर न लादो, हिंसादि कुत्सित कर्म कर असदाचार न फैलाओ, अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी हानि न करो, धनसे परोपकार—सत्कर्म करो, धर्म रक्षा, जीव दया और पुण्य कर्म करो, दुःखी मनुष्योंकी रक्षा, अन्ध अपंगुओंकी सहायता, करो, मार्ग प्रभावना करो, धर्मकी महिमा जिस प्रकार संसारमें होसके उसके लिये भरपूर प्रयत्न करो, रथोत्सव, मेला, पात्रदान,

जिन पूजन आदि महान पुण्यदायक कार्यमें धनका उपयोग करो, औषधालय, पाठशाला, आदि कार्य करो; सबसे विनय-भावसे रहो; छोटे बड़े, नीच ऊंचे, गरीब और दुःखी पर यथा-योग्य प्रेम करो; धर्मकी स्थिरताके लिये, धर्म रक्षाके लिये और धर्मके विस्तारके लिये धनका उपयोग करो तो ही धन पाकर निरभिमानी हो ऐसा समझा जायगा।

इसी प्रकार तप, ऋद्धि, और आज्ञादिका अभिमान न करो। अभिमान असदाचारसे होता है। सदाचार धारण करनेसे आत्म धर्म प्रकट होता है जिससे वह जीवमात्रकी भलाईमें अपनी भलाई समझता है। आत्मश्लाघासे वह दिखनोद कार्य नहीं करना चाहता, वह अपने सत्कार्यको आत्म गौरव प्रकट करनेके लिये और जिसके ऊपर परोपकार किया है उसको तुच्छ और अहसानी समझनेके लिये नहीं करता, वह अपने सदाचारको आत्म धर्म विकाश, आत्म गुणोंकी वृद्धिके लिये और आत्म कर्तव्यके लिये निरपेक्ष और निःस्वार्थ होकर अति विनीत भावसे अति प्रेमपूर्वक करता है और इसी लिये वह अपना मार्ग स्वच्छदता और उच्छृं-खलताकी बाग्डोरमें फंसाना नहीं चाहता-असदाचारी नहीं बनना चाहता। आत्मोन्नति आत्म गुणोंके विकाश करनेमें है। सदाचार आत्म-धर्म धारण करनेमें है। विषय कषायमें लवलीन रहना और परिग्रहकी अमर्यादा (लोभ) एवं असदाचारमें न तो आत्मो-न्नति है और न राष्ट्रोन्नति है। जो लोग इस उद्देशसे असदा-चारी होकर परिग्रहकी मृग तृष्णामें बहककर धर्म अधर्मको भूलकर अपने स्वार्थको ही सच्चा बंधु मानकर अत्याचार व अन्याय करनेसे

डरते नहीं; वे ऊपरी भभकाको ही उज्वलता-पवित्रता समझते हैं-अपने स्वार्थको ही सदाचार मानते हैं और उसीके अनुसार अपने विचारोंको मनोहर प्रकट करते हैं। जबतक आत्म वृत्ति सरल, निरभिमान और पवित्र न होगी तबतक सदाचारकी मात्रा और आत्मगुणोंका विकाश नहीं हो सक्ता।

जितने सत्कार्य सरलता (निरभिमानता) से होते हैं उतने और किसीसे नहीं। धार्मिक कार्योंमें भी ईर्षा, द्वेष न करना चाहिये और न फूटके बीज बोना चाहिये। अभिमानसे किसीकी निंदा नही होती किन्तु अपना लक्ष च्युत होजाता है व आत्मधर्म नष्ट होजाता है। किसीका भला बुरा होना, नाश होना, उदय होना आदि वस्तुस्थिति पर निभर है, किसीके करनेसे कुछ नहीं होता, इसलिये सबसे प्रथम आत्मोन्नति है। जो मनुष्य अपनी आत्मोन्नतिके लक्षको छोडकर आभासका अनुकरण करते हैं वे अपने आपको ठगते हैं, अतएव सम्यग्दर्शन धारण करनेके लिये निरभिमान होना परमावश्यक है। मान द्वेषका कारण है। द्वेषसे कार्य नष्ट ही नहीं होते किन्तु आत्मधर्म पर विशेष मैल चढता है, आत्मधर्म मलिन होनेसे सद्विचार और सदाचार भी मलिन हो जाता है, आभ्यंतर वृत्तिमें विकार होता है इससे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि नहीं होसक्ती। इसलिये सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिये निरभिमान होना आवश्यकीय धर्म है। और सरलता धर्म वृद्धिका कारण है ॥ २२ ॥

आत्म परिणाम-एक कारणसे मलिन नहीं होते किन्तु अनेक कारणकलापोंसे मलिन होते हैं। सम्यग्दर्शनकी

विशुद्धिके लिये जिस प्रकार निरभिमान होना श्रेयस्कर है उसी प्रकार तीन मूढताका त्याग करना भी आवश्यक है।

संसारी जीव भोले होते हैं, उनको अनुकरण करना सबसे अच्छा लगता है। बालक माता पिताका अनुकरण करता है। अनुसरण एक प्रकारकी कमजोरी है अथवा अज्ञानता है, बालक अज्ञानताके लिये ही अनुकरण करता है।

स्वार्थके लिये सच्चे धर्मका अनुकरण भी कभी२ अन्यथा होजाता है। स्वार्थसे अज्ञानता आधमकती है। अज्ञानतासे हिताहित भुला जाता है। मूढता—अज्ञानतासे धर्मका अनुकरण अन्यथारूप हुआ है।

स्वार्थी मनुष्योंने भोले जीवोंको धर्माचरणमें मिथ्या लोभ बताये। लोभ बुरी बलाय होती है, लोभी मनुष्य परीक्षा करना भूल जाता है, ज्ञान खो बैठता है। मूढताकी सृष्टि लोभ और अज्ञानतासे हुई है। बिचारे भोले प्राणी अज्ञान और लोभसे धर्मके सच्चे स्वरूपको भूलकर अधर्मको धर्म मानने लगे—अधर्ममें ही आत्महित समझने लगे। इसलिए अधर्मको धर्मबुद्धिसे सेवन करने लगे। ऐसे आचरणोंका नाम मूढ़ता है। ऐसे आचरण असंख्य हैं, मूढ़ता भी असंख्य हैं परन्तु उन सबका तीन मूढ़तामें समावेश है।

लोकमूढ़ता—धर्म समझकर, आत्महित समझकर, पर्वतसे गिर आत्मघात करना, अग्निमें पड़कर आत्मघात करना, धारी कुदाला आदिसे घात करना, बालु पत्थरके ढेर लगाकर पूजना, और समुद्रादिकोंमें स्नान करना आदि लोकमूढ़ता है।

बाह्यशुद्धि ग्लानिको दूर करनेवाली है। मलमूत्रका स्पर्श,

हिंसादि महापातक कर्म करनेवाले मनुष्यका स्पर्श, रुधिर, वमन और हाड मांसका स्पर्श ग्लानिका कारण है। ऐसा भी होता है कि ऐसी वस्तुओंके सहयोगसे रोग, बुद्धि नाश, ग्लानि, कंप और भय उत्पन्न होता है, बाह्य संस्कारमें अशुचिताका असर होता है। और वह आभ्यंतर वृत्तिमें मलिनता करता है इसलिये बाह्य शुद्धि आभ्यंतर शुद्धिकी बीजभूत है, पवित्रताका कारण है परन्तु इससे ऐसा न मानना चाहिये कि बाह्यशुद्धि आत्म धर्म है।

गंगा, समुद्र और गोदावरी आदि नदियोंमें स्नान करना समस्त पापोंसे छूट जाना है, सच्चा धर्म है, मोक्षमार्ग है यह बात नहीं हैं क्योंकि इनमें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है या आत्मा ? शरीर तो किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि वह मलमुत्र, रुधिर, पाश, हाड, शुक्र, कफ, क्षार, श्लेष्मा, स्वेद और चामका पिंड है। इसमें एक भी ऐसी चीज नहीं है जो स्नान करनेसे बदल जाय—पवित्र होजाय और पुनः अपवित्र न हो। कोयलेको कितना ही धोया जाय और धोते२ वह नष्ट भी होजाय परन्तु तो भी वह अपनी मलिनता नहीं छोड़ सक्ता। शरीर भी ऐसा ही है। इसको कितना ही धोओ परन्तु मलिनका मलिन है। इसलिये गंगादि नदियोंमें धर्म समझकर स्नान करनेसे शरीरकी अवस्था बदलती नहीं है। कदाचित् बदल भी जाय तो इससे क्या आत्मा पवित्र होगया ? सूअर, भैंसा, मछली आदि जीवोंका शरीर और मुर्दा पानीमें सतत् पड़ा रहनेसे शुद्ध नहीं होता।

आत्मा बड़ी पवित्र है, अमूर्तीक है, ज्ञानदर्शनमय है, विशुद्ध है। उसको पानी स्पर्श कर नहीं सक्ता, हां कर्मोंके

कारण वह पराधीन है इसलिये शरीरमें कैद है—संसारी है।

संसारी जीव हिंसा, झूंठ, चोरी, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार और घोर पाप करते हैं। व्यापारादि निमित्त अनंतजीव मारना, शिकार आदि कुत्सित आचरण करना, वेश्यागमन करना, मांस मदिरा सेवन करना, जूआ (द्यूत) खेलना, परस्त्री रमण करना, दूसरोंको सताना, दीन हीन जीव जन्तुओंको कष्ट देना, दास दासी, और सेवक जनोंपर अन्याय करना, अन्याय और दगासे व्यापार करना, भोले भाइयोंको ठगना, भ्रूण हत्या करना, इत्यादि समस्त कर्मोंसे होनेवाला पाप क्या गंगा नदियोंमें स्नान करनेसे छूट जायगा? पाप करना और स्नानकर लेना—मोक्ष प्राप्त होगई, तो तप—ध्यान, संयम, सदाचार, सत्कर्म और परोपकार कार्य क्यों करना? ईश्वरोपासना क्यों की जाय? मछली आदि जीव जो सदा पानीमें रहते हैं मोक्षरूप क्यों नहीं माने जांय? परन्तु यह बात नहीं है। पापोंका निवारण स्नान करनेसे नहीं होता, वह तो सदाचार पालनेसे और पापोंको छोड़नेसे होता है। हां यह दूसरी बात है कि उससे बाह्यशुद्धि होती है न कि धर्म। पापके कार्य करनेसे बांधे हुए अशुभ कर्म तो अच्छे २ काम करनेसे, सदाचार-पालन करनेसे, तप, ध्यान और संयमाराधनसे दूर होंगे न कि नदियोंमें हजारों जीव मारनेसे, इससे और उलटी हिंसा होती है जो पापका कारण है। कफवाले रोगीको शक्कर पिलाना व्याधि बढ़ाना है, पापोंको छोडनेके लिये अगणित जीव हिंसा और पापोंके बढ़ाती है। इसलिये इसको अज्ञानताका अनुकरण अशुभ प्रवृत्ति कहा जाता है। अज्ञानताका नाम मूढता है।

इससे यह न समझना कि आठ प्रकारकी लोकशुद्धि मानना ही नहीं चाहिये—स्नान करना ही नहीं चाहिये। नहीं, लोकशुद्धि शुचिताका कारणभूत है, बाह्यचारित्र है—शुभाचरण है। बाह्य विकारोंका असर बडा भयंकर होता है। यदि बाह्य शुद्धिपर ध्यान न दिया जाय तो अनर्थ होजाय। रजस्वला स्त्रीका प्रत्येक पदार्थ-पर कितना असर पडता है। यदि गर्भिणी स्त्री सर्पको देखे तो सर्प अन्धा होजाता है। रजस्वला स्त्रीकी दृष्टिसे पापड़ आदि कोमल पदार्थ विकारित होजाते हैं। इसलिये ऐसे विकारी अशुचि पदार्थोंकी शुद्धि तो करना चाहिये—अशुद्ध शरीरको धोना चाहिये। स्नान करना, रजस्वलाका स्पर्श चार दिन तक नहीं करना आदि आठ शुद्धिको पालन करना चाहिये। ये धर्म हैं। इनसे पाप छूट जाते हैं? आत्म कल्याण होता है? मोक्ष मार्ग प्राप्त होता है? यह सब अज्ञान है, मूढता है।

पर्वतसे गिरकर धर्म मानना, इसका कारण यह है कि ऐसा करनेसे मरनेसे कष्ट नहीं होता, और कष्ट नहीं होनेसे मोक्ष मिलती है अतएव यह धर्म है, ऐसा मानना अज्ञानता भरा हुआ है। कारण प्रथम तो आत्मघात प्रत्यक्ष है, दूसरे कष्ट नहीं होता यह ठीक नहीं, पर्वतादि विकट स्थलोंके पातसे भय, मोह और अशुभ विचार होता है? इतना ही नहीं किन्तु आर्त और रौद्र

---

१ आठ शुद्धि—भस्म शुद्धि, गोमय शुद्धि, काळ शुद्धि, अग्नि शुद्धि, मृतिका शुद्धि, जल शुद्धि, पवन शुद्धि, और ज्ञान शुद्धि, ये आठ प्रकारकी लौकिक शुद्धि हैं। लौकिक शुद्धि बाह्य शौचाचारकी कारणभूत है, व्यवहार धर्म है। शौच गृहस्थोंकी ग्लानिको दूर करता है।

भाव होनेसे एक कुगतिका कारण होता है। इस प्रकारकी अज्ञानता राजनीति, धर्मनीति और सदाचारके विरुद्ध है, अशुभ प्रवृत्ति है इसी लिये यह भी मूढता है।

अग्निपात—बहुतसे लोग स्त्रियोंको पतिके साथ जीती हुई जल जानेमें धर्म मानते हैं, और ऐसा करनेसे मोक्ष होती है, यह भी अज्ञानता है। शील वृत (पतिवृत पालन) स्त्रियोंका परम धर्म है परंतु उसका यह अभिप्राय नहीं कि अग्निमें पड़कर आत्म-हत्या करना—यह तो भयंकर पाप है। पातिवृत आत्म धर्मकी विशुद्ध भावना है—पवित्र आचरण है। हत्या—हिंसा है, भला यह तो सोचो कि जीवित प्राणीके जल जानेसे उसके परिणामोंमें कितनी अशुभता होती होगी जो भयानक कर्मबंधका कारणभूत है। राजनीति ऐसे पाशविक अत्याचारोंसे दंडित करतो है तो फिर इसमें कैसा धर्म ? यह सब अज्ञान लीला है।

होममें पशु होमना, गायको देव मानकर पूजना, सूर्यको देव मानना, ग्रहणके समय अशुचि मानना और उसके मोक्षसे आत्ममोक्ष मानना आदि सर्व अज्ञान पद्धति है। पशु होम तो स्वार्थमयी महान घोर हिंसा है। गाय पशु है, उसमें देवताओंका वास क्यों होसक्ता है। हां वह दूध, घी आदिसे उपकार करती है इसलिये उसका उपकार मानना चाहिये, उसको देव मानकर पूजना अज्ञान है। सुर्य जड़ पदार्थ है, प्रकाश करना उसका स्वभाव है। उसमें देव बुद्धि रखना मिथ्या कल्पना है। इसलिये यह सब मूढता है इत्यादि बहुत प्रकारकी लोक प्रवृत्ति लोक मूढता है।

लोकमूढ़तासे यह तात्पर्य है कि जो कार्य लोगोंके देखादेखी

भेड़ियाधसानके समान विना विचारे किये जांय। ऐसी प्रवृत्ति, ऐसा आचरण कि जिनका तत्व बिलकुल समझमें नहीं हो अथवा कुछ और ही हो—अज्ञतापूर्वक लोकानुकरण, लोकमूढ़ता है। एक महात्मा गंगा स्नानकर नदीके किनारे एकान्तमें समाधिस्थ होना चाहते थे। उनके पास एक लोटा था उसको कोई चुरा न लेजाय इस भयसे उनने वह लोटा बालूमें गाढ़ दिया और ऊपरसे बालू (रेत) की ढेरी कर दी जिससे लोटाके स्थलकी पहिचान रहे। उनके इस कर्तव्यको दो चार मार्गमें जाते हुए मनुष्योंने देखा। उनने भी वैसी ही बालूकी ढेरी यह समझकर बनाई कि 'बालूकी ढेरी करनेसे महान सिद्धि होती है। सच्ची देवसेवा तो तत्काल ऐसी ढेरी बनाकर पूजनेमें है। इस प्रकार महात्माकी ढेरीके देखादेखी थोड़ेसे समयमें वहांपर बहुतसी ढेरी होगईं और पत्र पुष्पोंसे परिपूर्ण होगईं। महात्मा जब समाधिसे जागृत हुए तो देखा कि चारों तरफ बालूकी ढेरी२ हैं, किस ढेरीमें मेरा लोटा है? इसका ज्ञान भी न रहा और लोगोंकी अनुकरण पद्धतिकी अज्ञतापर हंसने लगे। ठीक इसी प्रकारकी बुद्धिसे अविचारपूर्वक लोगोंके अनुकरणको अज्ञता कहते हैं। जिन आचरणोंमें आत्मधर्म विकाशके लक्षण न हो, आत्महित न हो, कल्याणका मार्ग न हो, धर्मतत्व न हो, वस्तु स्थितिकी परीक्षा न हो, विचार न हो वे सब आचरण अज्ञताभरे हुए हैं—वस्तु स्थितिसे विपरित हैं, धर्माधर्मके विचार रहित हैं। ऐसी लोकप्रवृत्तिसे धनादिकी ही हानि नहीं होती किन्तु समयका दुरुपयोग हैं और पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान करनेसे सच्चे धर्मकी परीक्षा नहीं होती, आत्म कल्याण नहीं

होता, भलाईके स्थानमें आत्म परिणामोंमें उलटी बाधा–मलिनता उत्पन्न होजाती है। इसलिये सम्यग्दर्शन भी ऐसी क्रियाओंके आचरणसे मलिन होजाता है। पदार्थोंके सच्चे स्वरूपका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। और पदार्थोंका विपरित स्वरूप श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन संसार बंधन और दुःखोंका कारण है, अतएव लोकमूढताका त्याग करना चाहिये–प्रत्येक पदार्थका विचार कर ग्रहण करना चाहिये, परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये। छोटीसी छोटी बातोंमें कितना विचार किया जाता है, तो जिससे आत्मकल्याण होता है, अविनाशी सुख मिलता है ऐसे धर्मकी परीक्षा कर ग्रहण न करना, अथवा विचार न करना ही अज्ञता है और अज्ञता दुःखदायक होती है। लोकमूढ़ता भी अज्ञता है उसको छोड़ देना चाहिये॥ २४–२५॥

देव मूढता–देव चार प्रकार (भवनवासी व्यंतर ज्योतिष और कल्पवासी) होते हैं। देवगति नामा नामकर्मके उदयसे उक्त देव पर्यायमें अपना जन्म लेनेसे इनको देव कहते हैं। इनका वैक्रियक शरीर होता है और अवधिज्ञान भी होता है। कर्मोपाधि होनेसे, ये भी संसारी हैं, सदोष हैं, जन्म मरणादि व्याधियोंसे परिपूर्ण हैं, रागद्वेषादि दोषोंसे विकारवान हैं।

ऐसे देवोंको अपनी हित कामनाके लिये–आत्महित प्राप्त करनेके लिये अरहंत देवके समान पूजना, उनको सुदेव मानना मूढता है। इनकी पूजा लोग मंत्रादिकी सिद्धिके लिये करते हैं, क्योंकि ये देव रागी हैं, द्वेषी हैं; संसारी हैं परन्तु इनमें अपार शक्ति होनेसे ये अपने आराधकोंके मनोरथोंको पूर्ण करसक्ते हैं,

इनके आराधनसे सिद्धि होती है इसलिये इनकी पूजा, मोक्ष मार्गमें उपयोगी नहीं है, किन्तु धनादिकके व्यामोहसे प्रत्युत संसारवर्द्धक है। सम्यग्दृष्टि नैष्टिक श्रावक अपने स्वार्थके लिये इनकी पूजा नहीं करता।

उक्त देवोंमें भी कितने ही देव सम्यग्दृष्टि हैं, पाक्षिक श्रावकके मोहनीय कर्मका विशेष उदय है अतएव वह अपनी मनोकामनाके लिये, धर्मरक्षाके लिये, मंत्रादिकी सिद्धिके लिये इनका आराधन जिस प्रकार सम्यग्दृष्टीका आदर अन्य सम्यग्दृष्टी करता है उसी प्रकार करता है और फल भोक्ता होता है।

कभी कभी धर्मरक्षा निमित्त अति विकट समस्या उपस्थित होती है—धर्मरक्षा अगणित प्र णोंकी आहुति करनेपर, और धनादि सामग्रीकी भयंकर हानि सहन करनेपर भी नहीं होती, ऐसे समय धर्म रक्षार्थ इन देवोंका आराधन मंत्रपूर्वक किया जाता है और इनका सत्कार उनके योग्य किया जाता है। प्रतिष्ठादि कार्योंमें परकृत अनेक भय और विघ्नबाधा होनेकी संभावना होती है अतएव उस समय यथायोग्य इनका आराधनकर धर्मरक्षा की जाती है। विधिपूर्वक इनका आह्वानन करनेसे सातिशयता भी होने लगती है।

परंतु इनसे मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होसक्ती, आत्मकल्याण नहीं होसक्ता, आत्मधर्म विकाश नहीं होसक्ता, कर्म निवृत्ति नहीं होसक्ती, इसलिये ये उपादेय नहीं हैं, श्रद्धेय नहीं हैं।

लोक मान्य ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, काली, महाकाली, पीर पेगंबर, आदि देव, देवगतिमें नहीं होनेसे देव भी नहीं कहे जाते

और संसार बंधन नष्ट नहीं होनेसे देवाधिदेव भी नहीं कहलाते, किन्तु संसारी हैं, सरागी हैं, सदोषी हैं, इतना ही नहीं, किन्तु उनका स्वरूप परमात्माके स्वरूपसे बिलकुल विपरीत है, मिथ्या है, इसलिये ऐसे देवोंका सेवन तो प्रत्यक्ष ही मिथ्या दर्शन है। ऐसे देवोंको अदेव कहते हैं। इनका पूजन आदर—सत्कार और मान्यता भी पदार्थके स्वरूपमें भ्रमोत्पादक है, विपरीत है, अयोग्य है, अज्ञानता पूर्ण है।

जो देव स्वयं रागी, द्वेषी, कर्ममल लिप्त—और मोहकी अनेक विडम्बना सहित हैं वे अन्यको किस प्रकार निर्दोष बना सक्ते हैं? कर्मफंद किस प्रकार नाश करा सक्ते हैं? विषय कषायोंसे लिप्त रागी दोषी देवोंका आराधन, पूजन, अज्ञता पूर्ण है। विषय कषायोंको दूर करनेके लिये, दोषोंको त्याग करनेके लिये, व्यभिचार आदि कुत्सित पापाचरणोंको छोडनेके लिये, विषय कषायी देवोंकी आराधना करना शीत रोगीको नदीमें स्नान करनेके समान है।

देवाधिदेव—सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी अरहंत भगवान हैं। वे ही मोक्षमार्गके प्रधान नेता हैं, सच्चे उपदेशक हैं, राग द्वेषादि विकार रहित हैं। उनकी पूजा आत्म धर्म विकाशके लिये, और सुख शांति प्राप्त करनेके लिये है।

अरहंतके स्वरूपमें विकार बतलाकर उनको अरहंतके नामसे पूजना भी देवमूढ़ता है। श्वेतांबर लोग अपने देवका अरहंत आदि नाम धरते हैं परन्तु उनका स्वरूप तथा लक्षण, विलकुल विपरीत मानते हैं, सरागी मानते हैं, रागद्वेष पूर्ण सदोष मानते हैं इसलिये श्वेतांबरोंके मंदिरमें रागद्वेष चिह्नोंसे पूर्ण, अरहंत नाम धारक अरहं-

भासोंको पूजना महा मिथ्या है। स्वरूप भ्रांति है। अज्ञता है स्वरूप विपर्यास है। पदार्थोंका स्वरूप ही विपरीत है तो उससे सम्यग्बोध नहीं होगा, कल्याण नहीं होगा। बातके रोगीको कफका रोगी समझकर (विपरीत निदान) यदि औषधि की जायगी तो उलटा रोग बढेगा अथवा अपच रोगीकी चिकित्सा शक्ति-हीन समझकर पौष्टिक पदार्थोंके भक्षणसे की जायगी तो मरण सिवाय गति नहीं होगी। ठीक, उसी प्रकार स्वरूप विपर्यासमें सत्य स्वरूप समझकर उपासना की जायगी तो विषपानके समान भयंकर होगी।

देव मूढता अनेक प्रकार होती है—परिणामोंकी अस्थिरता आत्म विचारोंकी कमजोरी, आत्म-धर्म पालनेकी कायरता, तत्वा-तत्वकी अपरीक्षा, अज्ञानकी प्रवृत्ति, व्यामोह, विषय कषायोंकी विषमयी स्नेहता. अविवेक, कुत्सित राग और विचारशून्य बुद्धिसे होती है। देव मूढता-एक प्रकार अज्ञान है और अज्ञान दुःखप्रद होता है।

वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका बोध होना, वस्तु स्थितिको सत्य २ जानना, पदार्थ स्वरूपको कारण विपर्यास. स्वरूप विप-र्यास, लक्षण विपर्यास और फल विपर्यास रहित एवं व्यामोह रहित, यथार्थ रूपको जानना ही सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ज्ञानसे ही वस्तु परीक्षा सत्य २ होसक्ती है। परीक्षित वस्तु उपादेय होती है, परीक्षित औषधी शांति प्राप्त कर सक्ती है, परीक्षित मार्ग निर्भय और निराकुल होता है।

वस्तुके स्वरूपके प्रतिपादन करनेमें पक्षपात या स्वार्थ अथवा व्यामोह नहीं करना चाहिये। और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपके

कहनेसे निंदा ही समझना चाहिये। जिसका जैसा स्वरूप है उसको वैसा कहना ही चाहिये, अन्यथा पदार्थ निर्णय और सम्यग्ज्ञान नहीं होसक्ता।

धर्मकी प्रवृत्ति उसके प्रवर्तक महात्माओंसे होती है। यदि उन महात्माओंका स्वरूप असत्य है, विपरीत है, सदोष है, निंद्य है, दोषपूर्ण है तो उनको सच्चा मानना वास्तविक भूल है, अज्ञता है।

धर्मके प्रवर्तक महात्मा रागद्वेष रहित, स्वार्थ रहित, काम क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह रहित, सब प्रकारसे निर्दोष, सदाचारसे परम पवित्र, सत्कार्योंसे सर्वोत्कृष्ट, और सत्य ज्ञानसे पूर्ण हैं, विकार रहित हैं. सत्य स्वरूपके प्रतिपादक हैं तो ही वे सच्चे देव हैं और उनको वैसा ही मानना सम्यग्ज्ञान है, वस्तु स्वरूप है। ऐसे ज्ञानसे आत्म कल्याण होसक्ता है?

इससे विपरीत स्वरूपवाले देवोंकी पूजा, विनय, सत्कार (पदार्थ स्वरूपके विपरीत होनेसे) अज्ञता है, अधर्म है, मूढता है।

बहुतसे मनुष्य बच्चेके रोगिष्ट होनेसे तत्काल ही कुदेवोंकी उपासना करने लगते हैं यह उनकी बड़ी गंभीर भूल है, क्योंकि मृत्युसे कोई नहीं बचा सक्ता, वे स्वयं मृत्युसे बचे नहीं हैं। रोगकी शांति पुण्योदय होनेसे होती है। कैसी ही उत्तमसे उत्तम औषधी क्यों न हो परन्तु आयु विहीनको कुछ कर नहीं सक्ती। सुखदुःखकी प्राप्ति अपने पुण्य और पापके उदयसे है। जिनको पाप कर्मका उदय है वे कितनी ही देव मूढता करें, कुदेव पूजें परन्तु शांति नहीं होती—सुख शांति नहीं मिलती। इसलिये ऐसे झूठे लोभमें न फंसो। पदार्थोंके विपरीत स्वरूपमें श्रद्धा न करो, परीक्षा करो,

वस्तु स्वरूपको विचारो, शीघ्रता न करो, भयभीत न हो, अज्ञ न रहो, दृढ़तासे सत्यपर विश्वास करो, लोभसे फंसो मत, विपरीत स्वरूपको ग्रहण न करो।

पाखंडि मूढ़ता—लोभी, दंभी, क्रोधी, मानी, विषयासक्त, और परिग्रहधारक गुरुओंकी सेवा करना ही पाखंडि मूढ़ता है।

मनुष्य सद्गुणोंसे श्रेष्ठ बनता है और सदाचारसे पूज्य समझा जाता है, साधारण मनुष्योंमें और गुरुओं (साधु-महंत-महात्मादि) में यदि भेद है तो केवल उक्त दोनों बातोंका है। साधारण मनुष्य गृहस्थकार्योंमें लवलीन होनेसे लोभतृष्णासे लालायित होनेसे, विषयों (पांच इंद्रियोंके भोग-स्त्रीसेवन, मिष्ट और स्वादु पुष्टिकारक पदार्थोंकी आसक्तिता, मनोहर रूप देखनेमें व्यामोहतादि)में अनुराग होनेसे, कषायोंसे विकृत होनेसे और हिंसादि पापाचरणोंके करनेसे असदाचारी हो रहे हैं, हिंसादि पापोंमें लिप्त हो रहे हैं, आत्मज्ञानसे शून्य हो रहे हैं, गृहस्थीके कारण सदाचार पालनेमें असमर्थ हो रहे हैं, आत्मधर्म विकाश करनेमें मोहसे कायर हो रहे हैं, सत्कार्य करनेमें गृहचिन्तासे विमुख हो रहे हैं, संयमाराधनमें शक्तिहीन होरहे हैं। तप, ध्यान और आत्मस्वरूपमें लीन होनेके लिये ब्रह्मचर्यके अभावसे भयभीत हो रहे हैं, उत्तम क्षमा न होनेसे क्रोधी हो रहे हैं, सरलता (मार्दव) न होनेसे कपटी हो रहे हैं इत्यादि अगणित बातोंमें गृहस्थी मनुष्य गुरुओंसे पीछे हैं, परन्तु यदि गुरु ही असदाचारी हों, हिंसक हों, कामातुर हों, क्रोधी हों, आरंभी हों, लोभी हों, रागी हों, व्यभिचारी और अन्यायी हों, दंभी हों, मदिरा, भांग, गांजा

आदि निंद्य पदार्थोंके भक्षण करनेवाले हों, आत्मज्ञानसे रहित हों, आत्मधर्म, संयम, तप, ध्यान और सद्गुणोंको नहीं जानते हों तो ऐसे गुरुसे गृहस्थी ही श्रेष्ठ होंगे। ऐसे गुरु कर्मबंध बांधते हैं, और संसारमें भ्रमण करते हैं। यदि आत्मासे बुरी आदतें दूर नहीं हो सकीं, मन और इन्द्रिय वश न हो सका, मोह और तृष्णा न जीत सके तो कहना होगा कि ढोंग है, साधुका भेष धारण कर रखा है—नाममात्रके साधु हैं। ऐसे साधुओं (गुरु) से आत्मलाभ नहीं होता, ऐसे गुरुओंको धर्माधार मानकर उनसे अपना आत्मकल्याण समझकर पूजा करना, उनका आदरसत्कार करना, दान देना आदि पाखंडि मूढता है।

बहुतसे मनुष्य अपने बच्चोंकी रोगिष्ट अवस्थामें अथवा झूंठे भ्रममें आकर झाड़ू फुकवाते हैं, धुनी दिवाते हैं और मान्यता करते हैं। उनको विचारना चाहिये कि ऐसे पाखंडी जटाधारी, कठाधारी, बाबाओंके पास न तो मंत्र सिद्धि है और न कुछ करामात है—न ये गुरु हैं और न सदाचारी हैं, आत्मज्ञान हीन हैं। ये भिक्षाके बहाने मां बहिन बेटीको कुदृष्टिसे देखते हैं, भांग गांजा आदि पीकर व्यसन सेवन करते हैं ऐसे साधुओंको धर्मगुरु, धर्माधार, पवित्र, मोक्षमार्गके उपासक, सदाचारी, परोपकारी, हितोपदेशक और आत्म कल्याण करनेवाले मानना भारी अज्ञानता है। ३ पाखंडि मूढता है॥ २६ ॥

इस प्रकार कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी सेवा करना ही केवल अज्ञता नहीं है किन्तु ऐसे कुदेवादिकोंके उपासकोंकी—उनके अज्ञान कार्यकी प्रशंसा करना भी अज्ञता है। जो मनुष्य पदार्थके

स्वरूपको जाने नहीं, ऐसे मनुष्यके कर्तव्य भी अज्ञानपूर्ण होंगे। अज्ञान कार्य आत्म धर्म घातक है इसलिये ये छह अनायतन सम्यग्दर्शनमें दूषण लगा सक्ते हैं, अतएव इनको छोड़ देना चाहिये ॥ १७ ॥

शंका, कांक्षा, जुगुप्सा, मूढता, अनुपगूहनता, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये दोष और हैं जो सम्यग्दर्शनमें दोष लगाते हैं और इनसे विपरीत आठ गुण हैं ॥ १८।१९॥

विश्वास ही समस्त कार्योंका प्रवाहक है। प्रेमका बीज है, लोक व्यवहार विश्वासता पर निर्भर है, व्यापार लेनदेन सब विश्वाससे होते हैं। एक मनुष्यका यह दृढ़ विश्वास है कि चोरी करना बुरा है इसलिये वह कभी चोरी नहीं करता ? इसका कारण विश्वास है। रोगीका विश्वास औषधी पर होगा तो लाभ होगा नहीं तो विशेष हानि होगी। इसी प्रकार जिसका आत्मा, तत्वों, धर्म, परमात्मा और परलोकपर पूर्ण विश्वास है, श्रद्धा है, अविचल प्रेम है, पूर्ण अनुराग है, रुचि है, भक्ति भावना है, निश्चय है तो ही वह धर्मका अनुयायी समझा जायगा। अन्यथा जबतक उसके हृदयमें शंका है, आत्म परिणामोंमें तत्वोंकी दृढ़ता नहीं है, आत्म विश्वास नहीं है तबतक वह उसका पात्र ही नहीं है। धर्मकी पात्रता श्रद्धासे होती है, बिना श्रद्धाके आत्म भावोंमें अनुराग नहीं होता, प्रेम संचार नहीं होता, भक्ति नहीं होती और न मलिनता ही दूर होती है। इसलिये जिनेन्द्रोक्त तत्वोंमें शंका न करो।

भूमिकी पात्रता उसको जोतनेसे होती, धर्मकी पात्रता आस्थासे होती है। इसलिये जिन वचनमें शंका नहीं करनी। इसका यह अर्थ नहीं कि अंध श्रद्धासे विश्वास करो किंतु तत्त्वोंकी परीक्षा करो, मनन करो, निर्णय करो, निश्चय करो। ऐसा न हो कि आत्माकी आस्था किसीपर न हो—यह भी अच्छा, वह भी अच्छा, इस प्रकार लुढ़कने बैंगनके समान कुछ भी आत्म निर्धारणा न हो।

अर्हन् परमात्मा हो सके हैं या नहीं, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम सत्य है या नहीं? व्रतादि आत्माके गुणोंको विकाश करनेवाले हैं या नहीं इस प्रकारके विचारको शंकादोष कहते हैं ॥१०॥

अर्हत परमात्मा ही सच्चे देव हैं। जिनागम ही सत्य है इस प्रकार अविचल दृढ श्रद्धान निशंकित अंग है।

निशंकित गुण—निर्भयता, दृढ़ विश्वास और सरल स्वभावसे होता है। भय सात हैं। ये भय समस्त संसारी जीवोंको लग रहे हैं। निर्भय होना ही धर्म धारण करना है और नहीं तो जन्म मरणका भय प्रत्येक क्षण २ दुःख दे रहा है। इसलिये भयको दूर करनेके लिये जीवोंकी धर्मपर पूर्ण प्रीति और अविचल श्रद्धान होना है, इस प्रकारकी अविचल श्रद्धाका होना ही धर्मका मूल है। अविचल श्रद्धा पूर्ण रूपसे निर्भय होनेसे—निशंकित होनेसे होती है और निशंकित होना ही सम्यग्दर्शन धारण करना है।

अंजन नामक चोरने इस अंगको पूर्ण पाला था। उसके चरित्रसे सबको निशंकित होना चाहिये। अंजनचोरकी कथा इस प्रकार है—

अञ्जनचोरकी कथा।

राजग्रह नामक नगरमें एक जिनदत्त सेठ अति धर्मात्मा और सदाचारी था। एक समय चतुर्दशीके दिवस सेठ प्रोषधोपवास धारणकर मसानभूमिमें जाकर आत्मध्यानमें लीन होगये, संसारके समस्त विकारको तजकर निर्भय होगये, और (एको मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः) इस तत्वज्ञानमें पूर्ण रूपसे निशंकित होगये। इसी समय दो असुर देव धर्मकी परीक्षा करनेके लिये वहांपर आये। पास ही में एक जमदग्नि नामक बाबा समाधिस्थ था उसके धर्मकी परीक्षाके लिये जमदग्निसे उन देवोंने कुछ प्रश्न किये। प्रश्नोंके पूछते ही जमदग्निमहाराज जमरूप महा विकराल होगए, क्रोधसे सब विचार भूलकर आत्म धर्मसे च्युत होगये, धर्म पालन करनेकी आत्म परीक्षासे भग होगये। तापसीकी ऐसी अवस्था देखकर वे देव वहांसे जिनदत्त सेठके पास आये और उनमेंसे एक अमित प्रभदेव कहने लगा कि मित्र! ये जैनधर्मके महात्मा—मुनिराज नहीं है, तो भी जैनधर्मके पालक गृहस्थ हैं परन्तु इनकी आत्मा कितनी निशंक है—निर्भय है? ये अपने धर्ममें कितने विश्वसित हैं? चलो परीक्षा करें। इस उद्देशसे जिनदत्त सेठको उस ध्यान अवस्थामें घोर उपसर्ग किया—धर्मसे च्युत करनेके लिये अनेक लोभ दिखाया, भय बतलाकर आत्म परिणामोंकी दृढताकी परीक्षा की, परन्तु अचल श्रद्धानी सेठ जरा भी

भयभीत न हुए और उन घोर उपसर्गोंको सहनकर धर्मसे पराङ्मुख न हुए—शिथिल न हुए। 'धर्म परीक्षा' यथार्थमें आपत्ति, लोभ और भयके कारण उपस्थित होनेपर आत्मभावनासे न चलायमान होना, ऐसे विकट समय 'प्राण जाहिं पर धर्म न जाहि' इस दृढतासे धर्ममें स्थिर रहना ही है। इसको निशंकित अंग कहते हैं।

सेठके धर्ममें ऐसे निशंकित भावसे प्रसन्न होकर आकाशगामी विद्या देवोंने प्रदानकी। विद्याके महात्म्यसे सेठ अकृत्रिम चैत्यालय आदिकी वंदनाकर धर्मध्यानमें और भी ठहरने लगे। सेठसे इस विद्याकी याचना सोमदत्त नामक दूसरे सेठने की। उदार जिनदत्तने विद्यासिद्धिकी विधि सांगोपांग सोमदत्तको बतला दी।

सोमदत्त विद्या सिद्ध करनेके लिये श्मशानमें एक सौ लड़के छींकेको वटवृक्ष पर लटकाकर नीचे सतेज शस्त्र रख दिये और वह पंच णमोकार मंत्रको पढ़कर उस छींकेके ऊपर चढने लगा परन्तु मनमें यह भय था कि कहीं सेठका कहना झुठा हुआ तो मैं नीचे पडकर मर जाऊंगा ऐसी शंकासे वह वार२ उस छींकेपर चढता उतरता था।

इसी समय अंजनचोर भागता हुआ वहां आया और सेठको इस प्रकार देखकर पूछने लगा कि सेठ यह क्या करते हो? सेठने कहा कि मैं आकाशगामिनी विद्या सिद्धकर रहा हूं? चोरने कहा कि मुझे इसकी विधि कहो। सोमदत्तने सर्व विधि और जिनदत्तकी सिद्धि कह वतलाई जिसको सुनकर वह चोर पूर्ण विश्वाससे दृढ श्रद्धासे उस विद्याको सिद्ध करने लगा यदि वह सेठके वचनोंमें जरासी

ही शंका करता-संदेह करता तो सोमदत्तके समान विफल मनोरथ होता। निर्भयता और धर्मकी आस्था विश्वासमें ही है। संशय मनवाला मनुष्य कुछ कर नहीं सक्ता, किन्तु संदेहसे विशेष हानि उठाता है। धर्म आत्म स्वभाव है। आत्म स्वभावमें विश्वास रखना ही चाहिये। हां अनेक धर्मोंको देखकर मन दुविधामें हो तो धर्मकी परीक्षा निष्कपट भाव (सरलता) और निष्पक्षपातसे कर निश्चित धर्मपर विश्वास करो।

अंजनचोरको किसी प्रकारकी शंका न होनेसे विद्या सिद्धि हुई और धर्मका ऐसा अतुल महात्म्य जानकर वह चोर जिनधर्मको ग्रहणकर मुनिव्रतको धारणकर, अविचल सुखको प्राप्त हुआ।

धर्मका विकाश श्रद्धापर है। यदि मनमें कुछ शंका नहीं है, और यह दृढ विश्वास है कि 'अर्हंतदेव ही सच्चे देव हैं, जिनागम ही यथार्थ रूप पदार्थोंका निरूपण करता है, इस प्रकारके भावोंसे सच्चे तत्वोंपर प्रीति उत्पन्न होती है और आत्म भावना दृढ होती है जिससे निर्भय होकर अनंत सुखको यह जीव प्राप्त करता है॥ ३१॥

कांक्षा-सत्कार्यकर फलकी चाहना आकांक्षा है। सदाचार, परोपकार, अथवा सत्कार्य, आत्म, गौरव या प्रतिष्ठाके लिये न करना चाहिये, किन्तु मनोभावनाको विशुद्ध बनानेके लिये करना चाहिये।

व्रत, सदाचार अथवा अन्य कोई धर्मकृत्यकर उससे सांसारिक सुखकी-भोगोपभोगकी चाहना न करना चाहिये। ऐसा निदान करनेसे आत्म भावनामें उत्साहशक्ति कम होजाती है और पवि-

भ्रता नष्ट होजाती है इतना ही नहीं किन्तु इस प्रकार व्रतादिक कर फल चाहनेसे आत्म कर्तव्योंके मुख्य उद्देश (लक्षसे) पतन होता है। ऐसा करनेसे सदाचारका महात्म्य ही कम नहीं होता प्रत्युतः उच्च भावना भी नष्ट होजाती है।

दूसरे जिन भोगोपभोग और इंद्रिय जनित सुखोंका निदान किया जाता है—फल प्राप्तिकी इच्छा की जाती है, वह फल पुण्योदयसे प्राप्त होगा, परन्तु इंद्रियजनित सुख भी संसार बंधनका कारण है, सतृष्ण है, आकुलता लिये है, और विषभरे हुए कुंभके ऊपर अमृतके लपेटके समान परिणाममें दुःखमय है। जिन दुःखोंसे भयभीत होकर तो सदाचार धारण किया, व्रत पालन किये और उनको फिर चाहना कितनी अज्ञता है। अपथ्यसे रोग हुआ और उसको दूर करनेके लिये पुनः अपथ्य करना जैसे भयंकर है, ठीक उसी प्रकार संसारके दुःखोंसे छूटनेके लिये धर्माचरण धारण किया और उसके फलसे पुनः सांसारिक भोगोंकी चाहना भी उससे अधिक भयंकर है।

बात भी यह सच है, फल चाहनासे—स्वार्थसे परमार्थ कार्य उत्तम नहीं होसक्ते। फल चाहनेकी आवश्यकता क्या? फूलकी सुगंधी स्वयं विस्तरित होगी। उत्तम बीज स्वयं अंकुरित होगा। सदाचार और धर्माचरण स्वयमेव बिना चाहे ही मनोरथ पूर्ण करेंगे। उच्च सत्कार्योंकी आदर्शता फल चाहनेमें नहीं है।

अनंतमतीने बाल अवस्थामें ही व्रत लिया था। यदि उसको संसारके सुखोंका लोभ होता तो वह पटरानी होजाती, परन्तु धर्मकी महिमाके सामने विषयोंके सुख तुच्छ हैं, विनाशीक, दुःखसे

पूर्ण हैं, चिन्ता और व्याधिके स्थानभूत हैं। इसलिये व्रतोंको धारणकर सांसारिक सुखको नहीं चाहना चाहिये।

निरपेक्षता और निःस्वार्थता सदाचारकी भित्ती है, किसी मनुष्यकी कुछ भलाई की और उससे अपनी ख्याति, आत्म प्रशंसाकी आकांक्षा करना भलाईका विक्रय करना है। निरपेक्ष छोटे२ सत्कार्योंसे और छोटी मोटी स्वाभाविक दयासे जितनी आत्मोन्नति होती है उतनी बड़े२ स्वार्थी और सापेक्ष कार्योंसे नहीं। आत्म-गुणोंका विकाश निरपेक्षता और निःस्वार्थता पर पूर्ण अवलंबन रखता है। पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनेके लिये बिलकुल ही निरपेक्ष होना चाहिये। आकांक्षा इच्छासे उत्पन्न होती है। इच्छाका होना एक प्रकारका विकार है, सर्वोत्कृष्ट होनेके लिये इच्छादि विकारोंको जीतना ही महत्वताके चिह्न है। मुनिराज संसारका उपकार विशुद्ध भावनासे करते हैं, निरपेक्ष वृत्तिसे करते हैं जिससे विश्वके जीव उनपर स्वाभाविक विश्वास कर लेते हैं। इतना ही नहीं किन्तु इच्छायें आकुलताको उत्पन्न करती हैं जिससे आत्माकी प्राकृतिक शांति उत्पन्न नहीं होसक्ती है। निरीच्छासे किया हुआ उपकार जीवमात्रमें अद्भुत चमत्कार करता है, संसारको आकर्षित करता है। यदि आत्मामें पूर्ण निःस्वार्थता और निरीच्छासे परम शांति होगई है तो उसकी भावना प्राकृतिक वैरको छोडकर शांतिसे सब जीव ग्रहण करेंगे यह फल विना इच्छाके ही आत्मा गुणोंके विकाश होनेसे स्वयमेव ही प्राप्त होजाता है। और वह संसारके सुखोंसे अनंतगुणा है॥ ३२॥

जुगुप्सा—संसारमें कर्मोदय सबको होता है। चाहे गरीब

हो या अमीर, सुखी हो या दुःखी, अशुभ कर्मका उदय सबको एक समान फल प्रदान करता है। इसलिये किसी महात्मा—सदाचारी मुनिराजके शरीरमें विभस्त व्याधि होगई हो, अथवा किसी धर्मात्माके शरीरमें रक्तविकार, कोढ, संग्रहणी आदि व्याधि हो गई हो जिससे उनके ऊपरी शरीरमें ग्लानि होती है, उसको जुगुप्सा कहते हैं।

घृणित पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना ठीक नहीं, क्योंकि कर्मोदय सबको एक समान भोगना होता है। कर्मोदयसे ऐसी घृणा अपने शरीरमें हो सक्ती है, किंतु यह विचारना चाहिये कि धर्मात्माकी दृढताको धन्य है कि ऐसी असह्य पीडा, और घृणित व्याधिके होते हुए भी रत्नत्रयमें सावधान रहते हैं। प्राणोंकी कुछ भी अपेक्षा न कर अति कठिन सदाचार पालनेमें लवलीन रहते हैं। मनुष्य प्रायः दुःखके समय चारित्रको छोड़ देते हैं, यह उनकी दृढ़ता नहीं है, यह उनकी आत्म परीक्षाकी अशक्ति है, कायरता है।

शरीर सदैव अपवित्र और स्वभावसे घृणित है। पीव, रुधिर आदि विकारोंका स्थल है, ऊपरसे सुंदर चर्म लपेटा हुआ है। शरीरके ऐसे स्वभावमें घृणा करना अज्ञता है। घृणा द्वेषसे उत्पन्न होती है. द्वेष संसार बंधन और भयका कारण है। इसलिये अशुभ पदार्थोंको देखकर घृणा न करनी चाहिये, साम्यभाव धारण करना चाहिये।

मुनिके नग्न शरीरको देखकर घृणा करना भी महान अज्ञता है, क्योंकि नग्न अवस्था घृणाका कारण नहीं है। शिशु (बालक)

नग्न रहता है। बालकके विशुद्ध हृदयमें विकार न होनेसे उसको अपनी नग्न अवस्थासे बिलकुल घृणा नहीं होती, और न दूसरोंको ही होती है। मुनिराजकी आत्मा अत्यंत विशुद्ध है इसलिये उनको स्वयं अपनी अवस्थासे घृणा विकार नहीं होता है। हां उनको देखकर जो घृणा करते हैं उनकी ही आत्मा विकारी है। उनका मन मलिन है। मलिन मनका होना ही अज्ञता है। किसी घृणित वस्तुको देखकर ग्लानि न करो। वस्तु स्वभावपर ग्लानि करना अज्ञता है, आत्मविकार है, हृदयकी मलिनता है।

पदार्थोंके स्वभावको जानना ही अभ्युदय है। कोई यथार्थ घृणित होते हैं तो कोई प्रिय। घृणित पदार्थोंसे यदि ग्लानि है तो पदार्थ स्वरूप जाननेमें कमी है। संसारमें यदि दुःख है तो पदार्थोंके स्वरूपको न जानकर अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोगमें है। इसलिये पदार्थके स्वरूपमें घृणा करना अच्छा नहीं।

आत्मा परम पवित्र है, अमूर्तीक है, घृणारहित परम विशुद्ध है, रूप, स्पर्श, रस और गंध रहित होनेसे घृणाके कारणसे भी रहित है। ज्ञान दर्शनमय—अनंत सुखमय है, विकार रहित है, ऐसी आत्माको बीभत्स पदार्थोंका संयोग नहीं होसका, और न उसके इन्द्रिय हैं जिससे वह बीभत्स पदार्थोंकी दुर्गन्धसे भयभीत हो जाय। आत्मा सदा निर्भय है, वह जड पदार्थोंसे रहित है। यह तो कर्मोंके कारण ऐसी भयावस्था हो रही है। इसलिये ग्लानि क्यों करना चाहिये ? ग्लानि करना आत्मधर्म नहीं है। जबतक ग्लानि है तबतक अनिष्ट संयोगोंसे भय है। भयका होना आत्मधर्म नहीं है। आत्मा सदैव निर्भय है।

इस धर्मको उद्दायन नामक राजाने पालन किया था उसका चरित्र यह है—

उद्दायन राजाकी कथा।

भारतवर्षके रौरव नामक नगरमें उद्दायन नामका नीतज्ञ, धर्मपरायण और प्रजाहितैषी राजा था, जिसकी धर्मपरायणता स्वर्ग-तक विस्तृत थी। स्वयं इन्द्र महाराज इनकी धर्मबुद्धिकी प्रशंसा किया करते थे।

एक समय सभामें समस्त देवोंके सन्मुख उद्दायन महाराजके सद्गुणोंकी अति उदार भाषामें इन्द्रने सराहना की, मानव जातिमें इतने उदार और प्रशंसनीय गुण होसक्ते या नहीं? इस बातकी परीक्षाके लिये ही एक देव क्षुल्लकका भेष धारणकर उद्दायन महाराजके समीप आया।

जिस समय वह देव आया, तब उसने अपना क्षुल्लकका भेष ऐसा भयानक और वीभत्स बनाया कि उसके शरीरकी दुर्गन्ध मनुष्य सहन नहीं कर सक्ते थे। और शरीरसे कोढ व्याधिके कारण पींव निकल रहा था। समस्त शरीर गल जानेके कारण मांस दीखता था और मक्षिकायें भनभन करती थीं।

जब वह राज दर्बारमें पहुंचा तो उद्दायन महाराज उसको देखकर अपने मनमें यह विचारने लगे कि धन्य है इसकी दृढताको, धन्य है इनके सदाचारको और धन्य है इनकी सेवा महिमाको, जो इतना भयंकर शारीरिक क्लेश होनेपर भी तथा व्याधिसे बिल-कुल सामर्थ्य हीन होनेपर भी अपने आत्म धर्ममें विशेष स्वलीन हैं। इस भयंकर वेदनाकी कुछ भी अपेक्षा न कर ये सदाचार

पालन करनेमें इतने उत्साही हैं, अति दृढतासे आत्मोन्नति कर रहे हैं, यह विचारकर वे अपने सिंहासनसे शीघ्र ही उठे, और धर्म प्रेमसे महा सन्मान पूर्वक नवधा भक्तिसे उनको पडगाया, विधि सहित आहार दान दिया।

पूर्ण आहार होने नहीं पाया था कि उस परीक्षक देवने वमन कर दिया। राजारानीने मिलकर क्षुल्लकके शरीरको प्राशुक जलसे धोया, कि पुनः उस देवने वमन कर दिया। राजा उस बीभत्सजनक कार्यको देखकर बिलकुल न घबडाया, और न घृणा ही की, किन्तु अपने मनमें प्रकृति विरुद्ध आहार देनेसे पश्चात्ताप करने लगा कि मैं महा अज्ञ हूं, गुरु देवके शरीरमें भयानक रोग है मुझे चाहिये था कि इनकी प्रकृतिके अनुकूल पथ्य आहार दूं, इस मेरी अज्ञानताको धिक्कार है कि जिससे यह अनिष्ट हुआ, मैं तबसे यही मान रहा था कि आज मेरा पुण्योदय है कि जिससे विशुद्ध चारित्रके धारक आत्मधर्ममें लवलीन और वस्तु स्वभाव जाननेवाले परम साहसी महात्माका दर्शन हुआ। आज मैं भी उनके सहयोगसे धर्म धारणकर परम पवित्र होता परन्तु अभी मेरा मंदोदय है जिससे मैं इन दृढ प्रतिज्ञ-महात्माको पथ्य आहार न देसका, इस प्रकारके विचारसे राजाने अपनी आत्म निंदा खूब की और अति भक्तिभावसे पुनः क्षुल्लकके शरीरको धोने लगा। क्षुल्लक भेषधारी देव राजाके विशुद्ध हृदय और सच्चे धर्म पालन करनेकी भावनाको देखकर परीक्षासे अनुभवकर परम प्रसन्न होता भया, राजाके अनिर्वचनीय गुणोंकी पूर्ण प्रशंसा की, और बार-म्बार उनके धर्मकी स्तुतिकर स्वस्थान गया।

पदार्थमें ग्लानि नहीं है, पापोंमें ग्लानि है, दुःखसे डरना नहीं चाहिये किन्तु दुःखोंके कारणोंसे भयभीत होना चाहिये। शरीर प्यारा नहीं है, आत्मा प्यारा है। रूपकी पूज्यता नहीं, गुणोंकी पूज्यता है। जान लेना सरल है, परन्तु सदाचारसे चलना कठिन है। इसलिये पवित्रताका हेतुभूत पदार्थ नहीं है किंतु आत्मधर्म है। वह सदा पवित्र है, शांतिमय है।

इस प्रकार उद्दायन राजाके समान विशाल और अति उदार होना चाहिये। दुःखी जीवोंको देखकर घृणा न करनी चाहिये किन्तु उनके दुःखमें समभागी होना चाहिये। सदाचारी मनुष्योंके स्वरूप (शरीरके रूप) को नहीं देखना है, धर्मात्मा मनुष्योंकी दरिद्री अवस्था नहीं देखनी है, त्रिलोक वंदित निस्पृही मुनियोंकी नग्न अवस्थापर विचार नहीं करना है, किंतु पात्रकी उत्तमता, सदाचारता और पवित्र गुणोंपर ही धर्मानुराग करना है। वही आत्म-धर्मको विकाश करेगा तथा सच्चे विनय और सदाचारकी महनीयताको जानेगा, धर्मकी स्थिरताके कारणोंको श्रेष्ठ समझेगा, धर्मात्माओंपर परम प्रेमी होगा, धर्म धारण करनेवाले महात्माओंका सच्चा भक्त होगा, वैयावृत्त करना उसका कर्तव्य होगा, धर्म ही उसका आत्मा है, धर्मको ही बन्धु, माता और पिता समझता होगा एवं उसके धारण करनेमें ही अपनी भावनाको लगाता है यही निर्विचिकित्सा गुण है ॥ १५ ॥

पदार्थोंके जाननेमें अज्ञानता ही मूढता है। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे धर्ममें अज्ञानता रखना भी मूढता है। स्वयं कुमार्गगामी होना अथवा कुमार्गमें चलनेवाले मनुष्योंका पक्ष करना

उनके धर्मकी सराहना करना, अशुभ प्रवृत्तियोंमें कदाग्रह रखना, अपने स्वार्थसे असदाचारको श्रेष्ठ मानना, धर्मनीति और व्यवहार-नीतिका उल्लघन करना, अविवेक और हीनाचारसे रहना, जिन धर्म आत्म धर्मसे ग्लानि करना ये सब अज्ञानता है। इस प्रकार अज्ञानताके वश सत्य धर्मको नहीं जानना मूढता है। मूढात्मा-ओंके कृत्योंकी तथा उसके उपासकोंकी प्रशंसा नहीं करना, उत्तमता प्रदर्शन नहीं करना, उसके सेवनमें आत्म कल्याण नहीं मानना, मोक्षमार्ग नहीं मानना, सदाचार नहीं मानना और पदा-र्थोंके सत्य स्वरूपमें प्रेम करना, सत्य धर्ममें अनुराग करना और आत्म धर्मको विकाश करनेवाले बाह्य आचरणोंमें पवित्र भावना रखना, विशुद्ध अंतकरणसे पवित्र जिन धर्मको धारण करना और सच्ची मनोभावनासे दया रखना ही निर्मूढता है।

पदार्थ स्वरूप जाननेमें और आत्म धर्म पालनेमें स्वार्थ और कदाग्रह नहीं रखना चाहिये। मेरे मित्र वकील हैं इसलिये वे बहुत अच्छा करते हैं यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वयं पदा-र्थोंकी पवित्र ज्ञानसे परीक्षाकर अनुभव करो। स्मरण रखो स्वार्थ-प्रतिष्ठादि और कदाग्रह नीच अवस्था है। पदार्थोंके ज्ञानसे ही निर्मूढता अंग पलेगा।

कुमार्गगामी मनुष्योंकी तथा कुमार्गकी स्वार्थ—भय और सह-वाससे भी उत्तमता नहीं मानना, उनके निषिद्ध गुणोंकी प्रशंसा नहीं करना, मनसे भी सराहना नहीं करना, और न अनेक प्रकारका लोभ दिखानेसे उसमें विश्वास करना ही निर्मूढता है।

इस अंगको रेवती रानीने धारण किया था उसका चरित्र यह है—

रेवती रानीकी कथा।

मथुरा नगरमें वरुण नामका एक न्यायप्रवीण राजा था। राजाकी रानी रेवती महा धर्मात्मा, अति पवित्र, तत्वोंको जानने-वाली और विचारवाने थी।

चन्द्रप्रभु नामके विद्याधर त्रिगुप्ताचार्यने मुनिवरके समीप क्षुल्लकके व्रत धारण किये। यह विद्याधर सच्चे धर्मका परीक्षक था एवं प्राकृतिक दृश्योंके देखनेका परम प्रेमी था। इसी लिये क्षुल्लक व्रत ग्रहण करते समय इसने कुछ परम्परागत कुछ विद्याओंसे प्रेम रखा। और अब शेष परिग्रहसे ममत्व छोडकर आत्मधर्ममें लव-लीन हुआ।

एक समय इसको यात्रा करनेका भाव हुआ। और अपनी यह भावना गुरुदेवको अति विनीत भावसे व्यक्त की। अवधि ज्ञानी मुनि महाराजने इसको चारित्रमें दृढ़ जानकर स्वीकारता भी दी और यह भी तीर्थयात्रार्थ गमन करनेको उत्सुक हुआ। चलते समय इसनें यह भी प्रार्थना की कि हे प्रभो! कुछ संदेश किसीको कहना है क्या? मुनि महाराज यह श्रवणकर कहने लगे—हे श्रावकोत्तम! सुव्रत नामक महा मुनिश्वरको वंदना कहना और रेवती रानीको धर्मवृद्धि कहना। यही बात और पास बैठे हुए और मुनीश्वरोंने की।

क्षुल्लक यह जानता था कि मथुरामें भव्यसेन नामके महा विद्वान समस्त शास्त्रके पारगामी मुनि भी विराजमान हैं। उनको गुरुदेवने क्यों वंदना नहीं कही? गुरुदेवके मनमें कुछ द्वेष है? अथवा भव्यसेनके चारित्रमें दोष है? इस प्रकार विचारमें वह

मग्न होगया और थोडीवार कुछ सोचकर यह कहने लगा कि अस्तु जो कुछ हो, सब देख लिया जायगा।

मथुरा आते ही क्षुल्लक सुव्रतनामक मुनीश्वरके पास गया और समस्त वृतांत कह धर्मोपदेश सुना। कुछ समयके बाद वह भव्यसेनका भेद लेनेको गया। भव्यसेन एकादश अंगका पाठी था, समस्त शास्त्रवेत्ता था, अतएव वह बड़ा गर्विष्ट था, क्षुल्लकको वंदनाका प्रत्याशीर्वाद नहीं दिया। क्षुल्लकको इस कर्तव्यसे कुछ शंका तो हुई थी परन्तु फिर भी परीक्षार्थ एक घटना प्रारम्भ की वह यह कि, जिस समय भव्यसेन शौचार्थ बाहर गया, क्षुल्लकने उसके कमंडलका जल ढोल दिया और चारों तरफ सघन हरियाली विद्याके प्रभावसे करदी।

भव्यसेनने जीवोंकी दयाका विचार करे बिना ही उस हरित भूमिमें विहार किया, और तलावके अप्रासुक जलसे शौचशुद्धि की। सच है ज्ञानी होना और बात है और सदाचारसे पवित्र होना, अंतःकरणमें विशुद्ध दयाका रखना और बात है। सदाचारहीन ज्ञान कुछ कामका नहीं है। भव्यसेन एकादश अंगका पाठी है तो भी यथार्थ चारित्रसे हीन है। चारित्र आत्माको पवित्र बनानेवाला है, सच्ची दयाका बीज है, समस्त जीवमात्रको सदाचार बंधु समझता है, वह अपनी भावनाको अति विशुद्ध बनाता है। सदाचारकी उत्कृष्टता आत्मबल और आत्मकर्तव्योंको प्रत्यक्ष कर दिखाती है, आत्मसिद्धिको प्रमाणित करती है। ज्ञान यदि मिथ्या हो गया तो निष्काम है, अज्ञान है। ज्ञानी पुरुष यदि व्यसन सेवन करे-असदाचारी हो, उन्मार्ग गमन करनेमें अनुत्साही हो

अथवा स्वार्थसे सदाचारकी हीनतामें उत्तमता समझता हो तो कहना चाहिये कि वह ज्ञानी नहीं है। वर्तमानमें कुछ विद्वान पवित्र अंतःकरणसे सदाचार पालन करनेमें कायर होते हैं, ऐसे लोग अपनेको तत्ववेत्ता होनेकी डींग बहुत जोरशोरसे मारते फिरते हैं परंतु स्वयं सदाचार प्रवृत्तिमें—सदाचारकी उन्नत भावनामें बिलकुल ही गिरे हुए होते हैं उनको सदाचारकी भावनापर लक्ष देना चाहिये। क्योंकि सदाचारकी छोटीसी भी मात्रा ज्ञानके भंडारसे बहुत अधिक महती और अनर्घ है। और एक बात यह भी है कि प्रायः जन समाज विद्वानोंका अनुकरण करता है। यदि विद्वान ही असदाचारी—कुत्सित हैं तो समाज भी वैसा होगा क्योंकि समाज सदा अनुकरण करता है।

भव्यसेन ज्ञानी होकर दयाहीन था, असदाचारी था इसलिये वह हीन था। औषधिका ज्ञान रोग दूर नहीं कर सका, किन्तु औषधिका पान ही रोगको दूर करेगा, कुछ कर्तव्य सदाचारके करे विना ज्ञान आत्म कल्याण नहीं कर सका है। और जो मनुष्य जानकर हीनाचारी—असदाचारी होता हो वह नितान्त अज्ञ है।

भव्यसेनकी इस प्रकार परीक्षाकर उस क्षुल्लकने रेवती रानीकी परीक्षा करनेके लिये अपना भेष ब्रह्माका बनाया और नगरकी पूर्व दिशामें अधिक ठाठबाटसे आकर उपस्थित हुआ। ब्रह्माको प्रत्यक्ष आया जानकर जनता एकदम एकत्रित होने लगी। अल्प समयमें राजा प्रजा सब उसकी पूजा करने आये। भव्यसेन भी आये और उनने भी खूब मान्यता की।

रेवती रानीको यह समाचार राजाने स्वयं पहुंचाया और

ब्रह्माके गुणोंकी, विभूतिकी मनमानी प्रशंसाकर वहांपर जानेको कहा परंतु सच्चे देवका यह स्वरूप नहीं है, परमात्मा समस्त विकारोंसे रहित परमपवित्र है, यह इस प्रकार नहीं हो सक्ता यह कहकर राजाको भी वस्तु स्वरूपका दिग्दर्शन कराने लगी।

इस परीक्षामें रेवती रानीको आयी न देखकर क्षुल्लक दूसरे दिवस विष्णुका भेष धारणकर नगरकी समस्त जनतामें क्षोभ उत्पन्न करता भया, परन्तु रेवती रानीका मन इस कौतुकसे भी चलायमान न हुआ, वह सत्य धर्ममें यथावत स्थिर रही। सच है सत्य धर्मका ग्रहण होनेपर स्वार्थ, भय और दूसरे कारणोंसे उसको छोडना मूर्खता है। इस प्रकार अनेक आश्चर्यकारक दृश्य प्रत्यक्ष दिखाकर असन्मार्गकी मान्यता अतुल विभूति, साक्षात् अवतार और उपदेशकी महिमासे वह क्षुल्लक समस्त नगरकी जनताको वश करता भया। तो भी रेवती रानी इस महान दृश्यसे और जनताके अविचारक अनुकरणके प्रभावसे जरा भी सन्मार्गसे च्युत नहीं हुई। कोई कैसा ही आश्चर्यकारक चमत्कार दिखलावे, एवं राज्यका लोभ, प्राण त्यागका भय और विषय कषायोंका प्रलोभन दे तो भी सत्य धर्मका नहीं छोड़ना ही आत्मबल, सत्यता, पदार्थ परीक्षा और तत्त्व गवेषणा है।

एक दिवस वह क्षुल्लक वीर प्रभुका समोसरणका ठाठ जमाकर जन मन रंजन करने लगा। राजाने सोचा कि यह तो जैन धर्मके साक्षात् तीर्थंकर आये हैं, रेवती रानीको यह आनंदवर्धक समाचार कहकर वंदनाके लिये कहा। रानीने कहा कि २४ तीर्थंकर हो गये ऐसा जिनागम कहता है, यह पचीसवें कहांसे आये?

यह सब किसी जादूगरका चमत्कार है। मैं ऐसे ढोंगीके चमत्कारको नहीं मानती। इस प्रकार इस अंतिम परीक्षामें रानीको सर्व प्रकारसे पूर्ण तत्व जानकार समझकर वह क्षुल्लक मनमें अतिशय प्रसन्न हुआ। परन्तु अभी परीक्षा करना कुछ बाकी रह गई थी इसलिये कोढ रोगसे पूर्ण भयानक भेष क्षुल्लकका धारणकर रेवती रानीके महलके समीप वह आया।

रेवती रानीने अति हर्षसे क्षुल्लक महाराजको पडगाया और नवधाभक्तिसे शुद्ध आहार प्रदान किया। परन्तु उस क्षुल्लकने रेवती रानीके आभ्यन्तर भावोंकी उत्कृष्ट परीक्षा यहांपर भी करनी चाही। इस लिये उसने वमन कर दिया। रेवती रानी यह देखकर अपने अशुभ कर्मोदयके कारण आत्मनिंदा करने लगी। और कहने लगी कि मैं अतिशय मंदभागिनी हूं, जो प्रकृति विरुद्ध आहार दिया, धिक्कार है मुझे। इस प्रकार अपनी भक्तता प्रदर्शन कर अपने भावोंको विशुद्ध और आत्मभावनामें दृढ बनाने लगी।

क्षुल्लकने रेवती रानीको प्रत्येक परीक्षामें सांगोपांग पूर्ण पाकर और जिनधर्ममें अत्यन्त दृढ समझकर विशुद्ध अंतःकरणसे पूर्ण प्रसन्न होकर प्रशंसा की और अपने गुरुकी धर्मवृद्धिके समाचार तथा अपनी परीक्षाके समाचार सविस्तर कहे।

सचमुच आत्मधर्म—परीक्षाकी कसौटीपर स्थिर रहनेसे ही समझा जाता है। स्वार्थ अथवा दूसरे कारणोंसे आज यह धर्म, कल वह धर्म पालन करना मनुष्यतासे बाह्य और अज्ञता है। इससे यह न समझना कि धर्मकी परीक्षाकर सधर्मको नहीं छोडना चाहिये। धर्मकी परीक्षा सरल और निष्कपट बुद्धिसे आत्मकल्याणार्थ करनी

तरहसे करना चाहिये। धर्मकी भी परीक्षा विशुद्ध वृत्तिसे होती है। धर्मकी दृढता स्वार्थत्याग, अनन्यभाव और विशुद्ध प्रेमसे होती है। जिनधर्म आत्मधर्म है। यदि उसका ग्रहण आत्मकल्याणार्थ किया जाय तो वह संसारकी कठिनसे कठिन और प्राणोंके नाश करनेवाली परीक्षाओंसे नहीं छूटता है। वह सदा निर्भय है, करुणामय है, प्रेममय है, अनंत सुखमय है, शांतिमय है, और समस्त विकारोंकी वह बिलकुल अपेक्षा नहीं करता। उसके सामने राज्यका लोभ तुच्छ है। संसारकी लुभानेवाली व्यामोह सामग्री उससे अत्यंत दूर हैं। जिस समय वह आत्मा उस पवित्र जिनधर्मको अपने विशुद्ध भावोंसे ग्रहण करता है, और उसकी खूबियोंका अपने आत्म परिणामसे निश्चय कर लेता है तब वह झूठे स्वार्थको लात मारकर गिरा देता है। वह झूठी आशाके फांसमें नहीं पड़ता है किन्तु उसको अपना सर्वस्व समझकर अनन्यभावसे उसमें लीन होजाता है, तन्मय हो जाता है। सचमुच-धर्म और संसारके प्रपंचोंमें महान भेद है ॥ ९९ ॥

अनुपगूहनता-सदाचारका मार्ग अत्यन्त कठिन है। आत्माकी बाह्य और आभ्यंतर वृत्तियोंको विशुद्ध रखना अतिशय विषम कार्य है। संभव है कि ऐसे गुरुतर कार्यमें अज्ञानता और अशक्तिके कारणसे निंदाजनक कार्य किसी धर्मात्मासे बन जाय जिससे वह व्यक्ति ही केवल निंदाकी पात्र न होती हो किन्तु धर्मकी भी साथमें निंदा (मिथ्यापवाद) होती हो तो उसके ऐसे निंदाजनक कार्यको प्रकट कर देना अनुपगूहनता है।

संयम तलवारकी धारके समान है। इस बातका अनुभव वे

ही महात्मा कर सके हैं जो संयम पालन करते हैं। शीलवान स्त्री (पतिव्रता) को अपने शील (ब्रह्मचर्य) की रक्षा करनेके लिये अपना जीवन, अपना बाह्य व्यवहार और आत्म कर्तव्य इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रखना होता है कि इसकी - अपेक्षा तलवारकी धारपर चलना सुगम है। वे अपने संयमके रक्षार्थ अपने प्राणोंको तुच्छ समझती हैं और परीक्षाके समय प्राणोंकी अपेक्षा नकर संयमकी रक्षा करती हैं। नीलीबाई आदि हजारों सतियोंने विकट संकटकी कुछ अपेक्षा नकर सदाचारको आत्मधर्म समझकर जिन धर्मकी महिमा प्रकट की थी। अगणित मुनियोंने संयम रक्षार्थ घोर उपसर्ग सहे, परन्तु वे सदाचारसे जरा भी शिथिल न होकर दृढतासे उसको धारणकर अपनी आत्मशक्तिसे-जिन धर्मका होने वाला मिथ्यापवादको दूरकर आत्म कल्याण किया इसलिये सदाचार अत्यंत पवित्र और दुर्लभ है।

धर्मकी परीक्षा सदाचारपर अवलंबित है। व्यवहार रीति—बाह्यवृत्ति भी धर्म है। निंद्य व्यवहार—असदाचार भी धर्मकी महत्वताको खोनेवाला है यदि आचार विचार और बाह्य व्यवहार निंद्य है, असदाचार मय है तो अवश्य ही आत्मधर्म मलिन है, निंदाजनक है, ग्लानिकारक है।

जिन कारणोंसे व्यवहार धर्ममें निंदा होती हो, मिथ्यापवाद होता हो जिससे संयमसे अश्रद्धा होती हो, सदाचार प्रभवासना नष्ट होती हो, उस धर्मकी महत्वता नष्ट होकर असदाचार फैल जाता हो, ऐसा कार्य किसी धर्मात्मासे अज्ञतावश अथवा अशुभोदयके कारण अशक्तिवश होगया हो तो उस निंदाजनक

कार्यको प्रकट नहीं करना चाहिये। हां उसको समझाकर पुनः संयममें धारण करना चाहिये।

दोषोंके प्रकट करनेसे धर्मकी हंसीके सिवाय द्वेष-ईर्षा प्रपंच बढते हैं, धर्माचरणसे अप्रीति हो जाती है जो अज्ञानकी कारण है।

निंदाजनक कार्य एक व्यक्तिने किया है उसका फल वह व्यक्ति अवश्य भोगेगा। परंतु उसके आश्रयसे निर्दोष धर्मका मिथ्यापवाद करना, असत्य लांछन लगाकर जनताके समक्ष अविश्वासका कारण उत्पन्न कर देना, आत्मबल अशक्ति प्रकट करना है। सदाचार और उत्तम धर्मकी निंदा करनेसे आत्मलाभ तो होता नहीं, किंतु अपनी अज्ञता अवश्य प्रकट होती है ॥ १७ ॥

सन्मार्ग पद्धति—व्यवहार पद्धतिपर निर्भर है। चाहे गृहस्थ धर्म हो या मुनि धर्म, परंतु सबका सन्मार्ग उनके बाह्य आचरणोंपर स्थिर रहता है। आचरणोंकी पवित्रता ही धर्म है, बाह्य वृत्ति आभ्यंतर वृत्तिको स्थिर और अनुगामी रखती है। विशेषकर जिनका निरंतर सहवास आत्माके साथ है, ऐसे आचार, खानपान, हिंसादि कर्म, बुरा व्यवहार, और परिणामोंको बिगाडनेवाले बुरे कर्तव्य ये सब आत्माकी आभ्यंतर वृत्तिमें जहरा असर उत्पन्नकर मलिन अवस्था प्राप्त करते हैं, इस लिये बाह्य सदाचारसे धर्म रक्षा करनो चाहिये। चोरी, कुशील, हिंसादि अशुद्ध व्यापार छोड देना चाहिये। ऐसे अनेक कार्य हैं जिनसे सच्चे धर्ममें वट्टा लगता है। वे सब व्यक्तिगत अथवा समाजगत न होकर एक समय उस धर्मकी मान्यतामें बाधक होते हैं, उसकी उत्कृष्टता नष्ट करते हैं इस लिये सन्मार्गमें आनेवाले विघ्नवोंको आत्म

शक्तिद्वारा दूर करना चाहिये ।

किसी समय धर्मकी सन्मार्गता धर्म तत्वकी अनभिज्ञतासे नष्ट होती है । यह सिद्धांत है कि सदाचारसे धर्मकी उत्कृष्टता समझी जाती है । सदाचार आत्म तत्वसे संबंधित है । जबतक आत्माको नहीं पहिचाना जाय तब तक वास्तविक सदाचार नहीं पलता । आत्म तत्वकी अनभिज्ञतासे बहुतसे मनुष्य सन्मार्गकी उत्तमता मिथ्यापवादोंसे नष्ट करना चाहते हैं उसको दूर करना ही उपगूहनता है । समीचीन मार्ग ऐसे कार्योंसे प्रवर्त रहेगा यही अपना कर्तव्य है ।

सन्मार्गका प्रवर्तन जनताके समक्ष धर्मभावनाकी उज्वलता, सर्वोत्कृष्टता रखनेसे होता है । सन्मार्गके प्रवर्तनसे ही धर्म स्थिर रह सक्ता है । इस लिये धर्मको पवित्र रखनेमें ही सन्मार्गकी प्रवृत्ति है । धर्मकी व्यापकता उसकी पवित्रता एवं उत्कृष्टतामें है और वह उसमें आये हुए मिथ्यापवादोंको दूर करनेसे होती है ।

यद्यपि जैन धर्मकी पवित्रता और सर्वोत्कृष्टता उसके वर्णित सदाचारसे स्वतःसिद्ध है, पवित्र और उत्कृष्ट वस्तु कठिनतासे ग्रहण होती है, उत्तम वस्तुओंका संयोग दुर्लभ है तथापि उसकी व्यापकता जनसमूहपर कुछ आधार रखती है । इस लिये जनताके समक्ष अपने असदाचारसे, अज्ञानसे, स्वार्थसे और अपनी आत्माके दुरुपयोगसे मिथ्यापवाद उस पवित्र धर्मपर न लगे यह प्रत्येक धर्मात्माको विचार रखना चाहिये इस लिये ही धर्म पवित्र रह सक्ता है इतना ही नहीं किन्तु ऐसे धर्मनिंदकोंको अच्छी तरह समझाना चाहिये ।

इस अंगको जिनेन्द्रभक्त नामक महापुरुषने पालन किया था उसका चरित्र यह है—

जिनेन्द्रभक्त सेठकी कथा।

ताम्रलिप्त नगरीमें जिनेन्द्रभक्त नामक प्रसिद्ध परम धर्मात्मा सेठ थे। इनका वैभव कुवेरको भी लज्जायमान करता था। नीति, विनय आदि गुणोंसे सेठ जगतमान्य और सर्वोच्च थे। इनकी कीर्ति समस्त संसारमें व्याप्त हो रही थी।

सेठ साहबके घरपर एक चैत्यालय था, वह सुवर्ण, मणि, मोती आदि रत्नोंसे चित्रित था। संसारमें वह चैत्यालय अद्वितीय और परम सुंदर था। गर्भगृहकी रचना अपूर्व थी। अष्ट प्रातिहार्य अनुपम शोभा दे रहे थे। श्री जिनदेवके ऊपर तीन छत्र अमूल्य थे, अनेक मणियोंसे गुंफित, परम दिव्य थे। उनमें एक मणी ऐसी थी कि जिसका मूल्य अंकित नहीं हो सकता था। वे सेठ निरन्तर भगवानकी पूजा और शास्त्र स्वाध्यायादि धर्मकृत्योंसे अपना जीवन परम शांतिसे व्यतीत करते थे।

एक समय पाटलपुरके राजकुमारने इस मणीकी महिमा सुनी और उसके लानेके लिये सूर्यकुमार नामक चोरको आज्ञा दी। चोर अन्य प्रकारसे मणी लानेमें असमर्थ हो क्षुल्लकका भेष धारकर, ताम्रलिप्त नगरीमें कायक्लेश जनित तप करता हुआ जनताका मन अपनी तरफ आकर्षित करने लगा। बाह्यभेष और बाह्य मुद्रा क्षुल्लकके समान होनेसे जनताने उसका सन्मान यथोचित किया।

इसी समय जिनेन्द्रभक्त सेठ व्यापारार्थ विदेश जानेके लिये उद्यत हुए, परन्तु जिन मंदिरकी रक्षा किसके हाथ करना

चाहिये इस विचारमें थे कि यकायक यह ध्या" आया कि क्षुल्लकको इस कार्यका भार सोंपना चाहिये। इसलिये क्षुल्लकको अपने घरपर बड़े प्रेमसे बुलाकर प्रार्थना की कि हे प्रभो! आप थोडेसे समय पर्यंत इस चैत्यालयकी रक्षा करें। चोर रूप क्षुल्लकने प्रथम ऊपरसे तो अपनी महत्त्वता बतलानेके लिये अस्वीकार किया किंतु मनमें अतिशय हर्ष हुआ। पुनः अधिक आग्रहसे स्वीकार कर लिया। दिवस व्यतीत होते हुए वह मणी चोरने चुरा ली और वहांसे भागा। मणीकी द्युति चोरके हाथमें छिपी नहीं। अतएव कोतवालने उसको पकडना चाहा। चोर भागकर सेठकी शरण हुआ। सेठने अपने मनमें विचार किया कि यह यथार्थमें चोर है और इसने यथार्थमें बुरा कार्य किया है, यह अवश्य दण्डका पात्र है तो भी यह इस समय क्षुल्लक भेषमें है। यदि मैं इसको इस समय कोतवालके आधीन करता हूं तो अवश्य ही सब लोग यह जानेंगे कि जैनधर्मके गुरु इस प्रकार चोर होते होंगे, इस प्रकार विचारकर प्रकट रूप यह कहने लगे, हो हो! तुमने बडा अनर्थ किया? इन महात्माको व्यर्थ ही कष्ट दिया। ये तो समस्त पापोंसे रहित बडे सदाचारी हैं और यह मणी मैंने ही इनसे मगवाई थी, ऐसा कहकर सबको विदा किया और चोरको एकांतमें बुलाकर इस घृणित कार्य करनेकी महा निंदा की, महान उपालंभ दिया, फिर ऐसा करनेको निषेध किया और मणी लेकर वहांसे निकाल दिया।

जिनेंद्रभक्त सेठने जैन धर्मकी मिथ्या निंदाको किस प्रकार छिपाया और धर्मकी रक्षा की। इस प्रकार धर्मकी मिथ्या निंदाको

छिपाना उपगुहन अंग है।

अस्थिरीकरण—सन्मार्ग पर चलना अति विषम काम है। संसारमें सब जीव एकसे नहीं होते। कोई सन्मार्गमें दृढतासे चलता है, तो कोई शिथिल भी होजाता है, ऐसे मनुष्योंको अपने पास शक्ति और सर्व साधन होनेपर भी फिर उसको सन्मार्गमें नहीं लगाना, उसकी सहायता नहीं करना, उनको उत्साह नहीं देना ही अस्थिरीकरण है।

संसारमें मोह और अज्ञानताकी फांसी विकराल है। कितने ही मनुष्य अज्ञानताके लिये सन्मार्गको जानते ही नहीं हैं। कदाचित् सत्संसर्गसे उनको सन्मार्गका बोध होजाय तो उसमें चलनेके लिये भयभीत होते हैं, सन्मार्गगामी बनकर अनेकवार भूल जाते हैं विशुद्ध मार्गसे च्युत होजाते हैं, उत्साहहीन होजाते हैं, शिथिल होजाते हैं।

मोहके प्रबल उदयसे तो सन्मार्ग ही विकट लगता है, सदाचार दुर्द्धर माल्हम होता है। कदाचित् किसी शुभ निमित्तसे सन्मार्गकी प्राप्ति हो जाय तो व्यामोहसे वह शीघ्र शिथिल हो जाता है। एक तो जीवोंकी अशुभ प्रवृत्ति चिरकालसे स्वयमेव हो रही है इसलिये असदाचारमें विना शिक्षा प्राप्त किये हुए भी स्वभावसे ही प्रवृत्ति होती है, सन्मार्ग प्रवृत्ति कठिन माल्हम होती है, वार २ प्रयत्न करने पर भी व्यामोहसे पुनः पुनः उससे रहित होजाता है, ऐसे समय सन्मार्गसे गिरते हुए मनुष्योंको जरासा सहारा देनेसे पुनः सन्मार्गगामी बनाना है। व्याधिकी कठिन वेदनासे रोगी मरणको अच्छा समझता है, और

कुछ आश्रय नहीं मिलनेसे अतिशय दुःखी और मरणके लिये आतुर होजाता है ऐसे समय यदि अच्छे वैद्यका थोडासा सहारा मिल जाय तो उसको कितनी शांति मिलती है ? उसके हृदयमें पुनः आशा संचार होने लगती है, ठीक उसी प्रकार संयमकी कठिन प्रवृत्तिसे, सदाचार पालन करनेमें होनेवाले विकट दुःख और कठिन व्रत उपवास आदि कार्योंसे आत्म धर्म धारण करनेमें आनेवाले विकट उपसर्ग, शारीरिक कष्ट और लोभ मोह आदि कारणोंसे यह जीव धर्मको छोड देना चाहता है, उससे भयभीत होना चाहता है, शुभ प्रवृत्तियां कठिन और दुःखकर प्रतीत होने लगती हैं, ऐसे समय ज्ञानकी सहायता, मधुर धर्म स्नेहकी सहायता, धर्मानुरागसे विशुद्ध अन्तःकरणका उत्साह मनुष्योंको पुनः धर्माचरणमें—सन्मार्गमें स्थिरकर देता है। सन्मार्ग चलनेकी अपेक्षा दूसरोंकी पतितावस्थामें सहायक होना भी उत्तम कार्य है।

ऐसे अगणित मनुष्य हैं जो कामादि विकार, बुरी संगति और कुत्सित शिक्षणके कारणसे सन्मार्गसे च्युत होजाते हैं ऐसे मनुष्योंको थोडीसी हार्दिक सहानुभूति, और सच्चे ज्ञानकी थोडीसी उत्तेजना महान कार्य करती है।

सत्कृत्योंका विस्तार, जन समुदायके हितार्थ है। उसके लिये कुछ करना मानव जीवनका कर्तव्य है। सत्कार्योंका विकाश दूसरोंकी सहायतासे होता है। यदि दूसरोंके आत्म विकाशमें—सत्कृत्योंमें प्र[illegible] है, सहानुभूति नहीं है, तो वास्तविक धर्म प्रेम भी नहीं है।

सन्मार्गानुगामी होनेमें जो स्वयं संकुचित हैं, धर्मकी पतित

अवस्थामें जो अनुत्साही हैं, धर्मसे च्युत होते हुए मनुष्योंको जो मनुष्य शक्ति और साधन होनेपर भी अनुदार हैं वे मनुष्य वास्तविक धर्महीन हैं। इसलिये धर्मके कार्योंमें सहायक होना, धर्मसे गिरते हुए मनुष्योंको पुनः धर्ममें स्थिर करना, धर्मकी रक्षाके लिये अपनी शक्तिका उपयोग करना, और अधिकाधिक मनुष्योंको धर्म मार्गपर लगाना ही धर्मधारण करना है।

स्वच्छन्दता, स्वार्थ और अल्पज्ञता मनुष्योंको धर्मसे च्युत कराती है, परिणामोंमें धर्म भावनाका महात्म्य कम करती है, मानसिक वृत्तियोंमें धर्म ग्रन्थोंका अनुराग अल्प होता है, धर्माधर्म सब समान प्रतिभासने लगते हैं। वर्तमान समयमें उक्त तीनों कारणोंसे कुछ लोगोंमें धर्मवृत्ति शिथिल होगई है उनको धर्मानुरागसे पुनः स्थिर करना चाहिये।

अल्पज्ञता–सबसे अधिक दुःखदायक है। अल्पज्ञतासे तत्व परीक्षा नहीं हो सकती, तत्वज्ञानकी उत्कृष्टताका ज्ञान नहीं होता, तत्वोंकी नियामकता समझमें नहीं आती इतना ही नहिं किंतु अल्पज्ञता अभिमान, पक्षपात और कुतर्कसे परिपूर्ण होती है। तत्वमीमांसाके लिये सरल परिणाम और अधिक ज्ञानकी आवश्यकता है। संसारमें अज्ञानी अथवा ज्ञानी ये दोनों विशुद्ध भाव होनेसे कल्याणके पात्र होते हैं परन्तु अल्पज्ञता तो सब गुणोंको नष्टकर विचारशून्य बना देती है, उन्मत्त और कलुषित हृदयी बना देती है इसलिये ऐसे जीव कठिन प्रयत्न करनेपर अपनी अहंकारता नहीं छोड़ते। इनकी धर्म बुद्धि नष्ट होजाती है, सदाचार विष समान लगता है, मनोकल्पना ही इनका साम्रा-

ज्य होता है ऐसे दुष्ट हृदयके मलिन मनुष्योंके सहवाससे यदि कोई भाई धर्म धारण करनेमें शिथिल होता हो तो उसको ज्ञान देकर, सन्मार्गका शुभ फल बतलाकर, और नीतिका यथार्थ अर्थ समझाकर पुनः धर्ममें स्थिर करना चाहिये। क्योंकि धर्म धर्मात्मा पुरुषोंके आधीन है। यदि धर्मात्मा जनोंके हृदयसे धर्मका विश्वास उठ गया तो धर्मका अभाव हो जायगा। इसलिये दूसरोंको धर्ममें स्थिर करना भी धर्मपालन करना है। और धर्मसे च्युत करना धर्मसे गिरते हुएको शक्ति होनेपर सहायता न देना अधर्म सेवन करना है।

दर्शन ज्ञान और चारित्रसे शिथिल मनुष्योंकी उपेक्षा करना अस्थिरीकरण है।

धर्म और संघकी वृद्धिके लिये धर्मसे चलायमान पुरुषोंकी सहायता करना स्थिरिकरण अंग है। इस अंगको वारिषेण महाराजने पालन किया था, उनका चारित्र यह है—

राजा वारिषेणकी कथा।

मगधदेश राजग्रह नगरमें न्यायपरायण, और जिनभक्त श्रेणिक महाराज राज्य करते थे। श्रेणिक महाराजके **वारिषेण** नामका पुत्र था। वारिषेण नीति, बुद्धि, पराक्रम, और क्षमादि गुणोंमें सर्वोच्च था, बड़ी २ विकट समस्याओंको वह क्षणमात्रमें निर्णय कर देता था, वह परम धार्मिक भी था।

एक समय चतुर्दशीके दिन प्रोषध धारणकर श्मशान भूमिमें ध्यान लगाकर वारिषेण कायोत्सर्ग स्थित थे. उसी दिवस मदन-सुंदरी वेश्याने श्रीकीर्ति सेठके गलेमें एक भव्य हार देखा, जिस

को देखते ही वह मोहित होकर यह विचार करती भई, कि जब तक मुझे यह हार न मिलेगा तबतक मैं आहार पानी नहीं ग्रहण करूंगी।

रात्रिके समय उस वेश्याका प्रियतम विद्युत नामका चोर उसके पास आया और अपनी प्यारी वेश्याकी इस अवस्थाका कारण पूछने लगा। वेश्याने हारका सब वृतांत सविस्तर कह सुनाया और यह भी कहा कि यदि वह हार नहीं मिला तो मैं अवश्य मर जाऊंगी। वेश्याकी इस दृढ हठको देखकर वह चौर सेठके घरसे हार चोराकर ले लाया, परन्तु हारकी कांति कोतवालको ज्ञात होनेसे कोतवालने चोरका पीछा किया, चोर बदमाश था, हारको वारिषेणके आगे रखकर अंतरित होगया।

कोतवालने वारिषेणके पास हारको पाकर वारिषेणको ही चोर समझा और महाराज समक्ष हारके चुरानेका अभियोग वारिषेणपर चलाया। श्रेणिक महाराज नीतिपरायण थे, इसलिये अपने निर्दोष पुत्रको भी दंडित किया और शिर छेदकी आज्ञा दी।

राजसेवकोंने वारिषेणके ऊपर खड्ग चलाया, परन्तु धर्मके प्रभावसे वह खड्ग पुष्पोंकी माल होगई। यह विचित्र कौतुक देखकर समस्त जन वारिषेणकी निर्दोषता प्रत्यक्ष जानते भये। महाराज श्रेणिक भी अपनी अज्ञतापर क्षमा मांगने लगे और घर पर चलनेके लिये वारिषेणसे विशेष आग्रह किया, परन्तु वारिषेण इतना ही कहकर निर्वृत्त हुए कि अब मैं संसारके दृश्योंसे तृप्त होगया हूं, अब मैं पाणिपात्र आहार करना चाहता हूं; ऐसा कहकर भगवती जिनदीक्षाको स्वीकार करते भये।

एक समय वारिषेण मुनि आहारार्थ पलाशकूट नामक ग्राममें पुष्पडालके घर पर गये। पुष्पडाल राजा श्रेणिकके पुरोहितका पुत्र था, इसलिये वारिषेणका बालसखा और समवयस्क था। वारिषेण आहार लेकर उद्यानकी तरफ विहार करनेके लिये चले, तो साथमें पुष्पडाल उनको पहुंचानेके लिये गया। ग्रामके बाहर जानेपर पुष्पडालने वापिस घर आनेका विचार किया परन्तु वारिषेण राजकुमार और बालमित्र होनेके कारण विना आज्ञाके वापिस लौटना अनुचित है ऐसा विचारकर अनेक सनस्यायें कीं, तो भी मुनि महाराज हां अथवा नां कुछ भी प्रत्युत्तर दिये विना ही मौन सहित चलने लगे। लाचार हो पुष्पडाल भी उद्यान तक गया। वहांपर पहुंचते ही धर्मका विशेष स्वरूप श्रवण करने पर उसने भी दीक्षा ले ली। और १२ वर्ष पर्यन्त परम तप किया। सब कुछ होनेपर भी वह अपनी स्त्री सोमिलाको नहीं भूला।

एक समय ये पुष्पडाल मुनि महावीर भगवानके समोसरणमें गये, वहांपर देवोंकर गाये हुए एक गीतको श्रवणकर उसका मन चारित्रसे चलायमान होगया. और सोमिलाका स्मरण हो आया। पुष्पडालके इस अभिप्रायको वारिषेण समझ गये, इसलिये उनको साथ लेकर एक दिवस वे निज राजमंदिरकी तरफ गये।

वारिषेणकी माताने उभय मुनिको असमय आते हुए देख, मनमें यह विचार किया कि कहीं मेरा पुत्र मुनिव्रतसे भ्रष्ट तो नहीं होगया? ऐसा विचार करते ही उनकी परीक्षार्थ सराग और वीतराग ऐसे दो प्रकारके आसन विछा दिये। उभयमुनि वीतराग आसनपर विराजमान हुए तब माताका संदेह निवृत्त हुआ।

वारिषेणने पुष्पडाल मुनिको उद्देश कर कहा कि हे मात! यह मेरा राज्य और अंतःपुरका साम्राज्य सब इन पुष्पडालको दे दीजिये। यह श्रवण करते ही पुष्पडालकी आत्मामें दिव्य ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने विचारा कि धिक्कार है मुझे जो मैं इस तुच्छ वस्तुका मोह करता हूं। ये मेरे गुरुदेव इतनी विभूति, और अप्सराओंसे भी परम सुंदर रानियोंका बिलकुल मोह नहीं करते जब कि मैं अपनी कुरूप स्त्रीके झूंठे व्यामोहमें व्यर्थ फंसा हूं।

इस प्रकारके विचारसे वह अत्यन्त लज्जित हुआ। इतना ही नहीं किन्तु उसको यह भी बोध हुआ कि मेरी आत्मा इन सबसे भिन्न है, शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी है, आजतक मैं आत्म स्वरूपको नहीं जान सका। यह मोह ही दुःखकारक और आत्म स्वरूपसे भुलानेवाला है।

थोडेसे समय बाद वह अति विनीत भाव और उत्कट वैराग भावसे कहने लगा कि प्रभो! क्षमा कीजिये, मैं अब आत्म स्वरू-पको अच्छी तरह समझ गया, मोहसे मैं अब निवृत्त हुआ।

इस प्रकार वारिषेण मुनिराजने चारित्रसे भ्रष्ट होते हुए पुष्प-डाल मुनिको पुनः सदाचारमें स्थित किया। सचमुच संसारमें निरपेक्षवृत्तिसे जीवोंको सन्मार्गमें लगाना सर्वोच्च और महत्वका कार्य है। आभ्यंतर वृत्तिके विशुद्ध होनेसे सदाचार भी विशुद्ध होता है। आभ्यंतर वृत्ति निःशल्य होनेसे होती है। मनकी पवि-त्रताका नाश विकारोंके उत्पन्न होनेसे, कुत्सित विचार होनेसे होता है। इसलिये जीवोंके कुत्सित विचारोंको ज्ञान द्वारा समझा देनेसे सदाचारमें वृद्धि होती है और धर्मकी स्थिरता होती है धर्मात्मा

भाइयोंका प्रथम कर्तव्य यही होगा कि धर्मसे चलायमान जीवोंको सब प्रकारकी सहायता देकर स्थिर करना चाहिये। जीवोंकी अज्ञान अवस्थापर पूर्ण आंतरिक दया रखनी चाहिये। अज्ञानी जीव सबसे अधिक दयाके पात्र हैं। शक्तिहीन मनुष्योंको थोडी धर्म प्रेमकी सहानुभूतिकी आवश्यकता होती है। धर्मात्मा भाइयोंकी आत्मा विशुद्ध प्रेमकी भण्डार है। वे जीवोंको असदाचारी अथवा धर्मसे चलायमान देख नहीं सक्ते। उनका कर्तव्य यही रहता है कि "समस्त जीव पूर्ण सुखी और शांतिमय हों, सदाचारी और उन्नत हों, ज्ञानी और विनयवान हों, निःस्वार्थी और निष्कपट हों, धर्मात्मा और श्रेष्ठ हों" इसी कर्तव्यसे वे अज्ञानी, असमर्थ और असदाचारी जीवोंपर विशेष दया रखते हैं। उनकी इस अवस्थासे मुक्त करना उनका आवश्यक कार्य होजाता है। उनकी भावना विशुद्ध और अति उदार होती है। धर्मरक्षार्थ वे राज्य विभूतिको तुच्छ समझते हैं। जीवोंको सच्चे धर्ममें—सन्मार्गमें लगानेके लिये वे अपना तन, मन और धन कुछ भी नहीं गिनते—जीव मात्रके कल्याण करनेमें वे अपना कल्याण समझते हैं। विशेष कर धर्मसे चलायमान जीवोंको पुनः धर्ममें स्थिर करना प्रथम कर्तव्य मानते हैं॥ ४०॥

अवात्सल्य—धर्मात्मा, गुणी और सदाचारी मनुष्योंको देखते ही हृदयमें धर्मानुराग पूर्वक प्रमोदभाव नहीं होना, उनके महान गुणोंमें विशुद्ध भावनाका नहीं होना, उनकी पवित्रताका सन्मान करनेमें लज्जाका होना, उनके साथ विशुद्ध प्रेम दिखानेमें हिचकना, उनकी उन्नत अवस्थाकी असहिष्णुता करना,

स्वात्माभिमानसे सदाचारियोंको तुच्छ और घृणाकी दृष्टिसे देखना, और गुणीजनोंकी अवज्ञा करना, अविनय करना इत्यादि सर्व अवात्सल्यता है।

धर्मकी वृद्धि होनेमें अवात्सल्यता पूर्ण घातक है। धर्मकी वृद्धि धर्मात्माजनोंकी वृद्धि होनेसे होती है। यदि धर्मात्मा पुरुषोंकी उन्नति देखकर क्षोभ होता हो, द्वेष होता हो, तो अवश्य ही अवात्सल्यता है यही नहीं किंतु सदाचारकी वृद्धिको रोकना, सच्चे धर्मके विशुद्ध गुणोंमें दूषण लगाना, मिथ्यापवाद लगाना भी अवात्सल्यता है।

धर्मपद्धतिमें मायाचारसे रहना, जनताको 'अमुक पद्धतिमें मैं हूं' केवल यही दिखानेके लिये अपना भेष वैसा रखना, स्वार्थ और कपट भावसे धर्म धारण करना, आदि सब अवात्सल्यता है।

व्यवहार धर्म–मुख्य धर्मका कारण है। व्यवहार चारित्र भी मुख्य चारित्रका कारण है। व्यवहार धर्मका लोप करना धर्मका ही लोप करना है। बाह्य सदाचारकी अमान्यता सदाचारको अमान्यता है। इसलिये व्यवहार धर्म और बाह्य सदाचारताकी वृद्धिमें हानि पहुंचाना धर्मकी हानि पहुंचाना है और वही अवात्सल्यता है।

व्यवहार धर्म और बाह्य सदाचार वर्णव्यवस्था, गृहस्थ चारित्र और आचार विचार आदिके पालन करनेसे होता है। यदि उसकी हानि की जाय तो सदाचार और धर्मकी हानि करना है। और ये सब धर्म प्रेमसे बाह्य हैं इसलिये इसको अवात्सल्यता कहते हैं ॥४१॥

धर्मके अंग अथवा कारण अनेक हैं, परन्तु सबसे मुख्य

वृद्धिका कारण वात्सल्य भाव है और वह आत्मीक विशुद्ध प्रेमसे होता है। विना इसके आत्मधर्म भी विकशित नहीं होता, गुणानुराग नहीं होता, मानव कर्तव्योंकी पूर्ति नहीं होती। गुणोंका अभ्युदय, धर्मानुराग और समस्त जीवोंसे बंधुत्वभाव वात्सल्य धर्मसे होता है।

सदाचारी मनुष्योंका हृदय अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको देखते ही आनंदसे भरजाता है। विशुद्ध प्रेमका प्रादुर्भाव होना, जीव मात्र पर दया करना, सच्चे धर्मकी वृद्धि करना, आत्मीक गुणोंका विकाश करना और परोपकारमें मग्न रहना वात्सल्यताका बाह्य फल है।

वात्सल्य भाव आत्मीक प्रेमका बीज है अथवा विशुद्ध आत्मीक प्रेमसे वात्सल्यभाव होता है। इसलिये आत्मीक गुणोंकी जितनी वृद्धि होगी, वात्सल्यभाव भी उतना ही आत्मामें बढेगा और वह विश्वव्यापी प्रेमसे जीव मात्रके गुणोंकी वृद्धि चाहेगा। आत्मीक प्रेममें वह शक्ति है कि जाति (स्वाभाविक वैर) विरोध उसके सामने स्वयमेव नष्ट होजाता है और साम्यभाव उत्पन्न होता है जिससे समस्त जीव उसको अपना उपकारी समझने लगते हैं। वात्सल्य भाव धारण करनेवाले मनुष्योंकी आत्मा इतनी सरल और शांत होजाती है, कि दुष्ट बुद्धि उनके पवित्र हृदयमें जागृत नहीं होती, जिससे स्वार्थ और मायाचार उनके समीप फटकने नहीं पाता है। सन्मार्गकी वृद्धि करना ही उनका दैनिक कर्तव्य और आत्मधर्म होजाता है, वे दुःखी जीवोंको देख नहीं सके, अज्ञानी और दुःखी जीवोंपर वे अपार दया दिखलाते हैं, जीवोंको कुमार्गसे छुडाना और सन्मार्गमें लगाना वे इस हीमें आनंद मानते

हैं, उनको सच्चे धर्म, सच्चे शास्त्र और सच्चे सुखकी वृद्धि बहुत प्यारी लगती है, इसी लिये वे उनको तथा उनके धारकोंको देखते ही सर्वोत्कृष्ट गुणोंके अनुरागसे प्रेम करते हैं, सन्मान करते हैं, और विशुद्ध भावसे उनकी वृद्धि चाहते हैं। आत्मीक आल्हादको प्रकट करना वात्सल्यका फल है।

सच्चे और उत्तम गुणोंकी भावना भी वात्सल्य भाव है, दूसरोंके सर्वोत्तम गुणोंकी आकांक्षा, प्रेमसे होती है इसलिये धर्मात्मा आत्मधर्मको त्याग नहीं करते हैं।

धार्मिक प्रेमसे केवल वात्सल्यभाव नहीं होता, किंतु आत्मोन्नति, सदाचार वृद्धि और आत्म गुणोंका विकाश भी होता है। हृदयकी विशुद्धता धार्मिक प्रेम विना नहीं होसकती। आत्म गुणोंके विकाश होनेके उच्चतर भाव धार्मिक प्रेम विना नहीं होसकेंगे अथवा आत्माका पूर्ण विकाश, परमात्मा होनेकी योग्यता और धार्मिक प्रेम वात्सल्य अंगसे प्राप्त होता है।

धार्मिक प्रेमसे रागद्वेषकी कलुषित भावना नष्ट होजाती है। जिससे वह अनिष्ट संयोग होनेसे द्वेष नहीं करता है, किंतु सरल और निष्कपट भावोंसे विशुद्ध प्रेम पूर्वक आत्म कर्तव्योंको नियमित करता है। आभ्यंतरवृत्ति वात्सल्यभावसे पवित्र होती है इसलिये सदाचार भावना अति दृढ और पवित्र होती है।

इतना ही नहीं किंतु वात्सल्यभावसे परम शांति और अपरिमित आत्मीक आनंद प्रकट होता है दयाका श्रोत बहने लगता है, साम्य अवस्था परमप्रिय होती है। गुणोंमें अनुराग होनेसे भक्ति भावना सदैव जागृत रहती है। सदाचार और सन्मार्गका

अनुकरण ही ध्येय होता है, सत्कर्म ही लक्षभूत होते हैं, ईर्षा, कलहसे ग्लानि होती है।

वात्सल्यभावसे आत्मवृत्ति जब तक पूर्ण नहीं होती है तबतक यह आत्मा सन्मार्गकी रक्षा करनेमें असमर्थ होता है, अचिन्त्य शक्तिहीन रहता है इसलिये वात्सल्य अंगसे धर्मरक्षा होती है।

वात्सल्य अंग विष्णुकुमार मुनिने पालन किया था उनका चरित्र यह है—

विष्णुकुमार मुनिकी कथा।

उज्जैन शहरमें सुधर्म नामका राजा था और उनके बलि, बृहस्पति आदि चार मंत्री थे।

एक समय अकंपनाचार्य सातसौ मुनियोंके संघ सहित वहां पर आये और नगर बाहर क्षिप्रा नदीके तीर विराजमान हुए। नगरमें इनके आनेसे विविध उत्सव होने लगे। अगणित साधर्मी भाई अष्टद्रव्य लेकर उनकी पूजाके लिये महोत्सवके साथ गये। जनताके इस प्रमोदोत्सवको राजाने देखा और मंत्रियोंसे इसका कारण पुछा। मंत्रियोंने दिव्य ज्ञानधारी मुनियोंके संघके समाचार कह सुनाये और यह भी कहा कि समस्त नगर उनकी वंदनाके लिये जा रहा है और इसी बातका यह उत्सव है। यह सुनकर मंत्रियों सहित राजा भी वंदनाके लिये वहां गये।

उज्जैन आते ही आचार्यने समस्त संघको यह आज्ञा दी थी कि वहांपर कोई भी मुनि किसीसे संवाद अथवा बातचीत न करें, नहीं तो समस्त संघकी हानि होगी इसलिये समस्त मुनिवर मौन सहित ध्यानमें मग्न होगये। परन्तु श्रुतसागर नामके मुनि चर्यार्थ

(आहारार्थ) शहरमें गये थे अतएव वे इस आज्ञाको नहीं सुन सके।

राजा और मंत्रियोंने प्रत्येक मुनिकी वंदना की, परन्तु किसीने आशीर्वाद नहीं दिया। यह देखकर मंत्रियोंने कहा कि ये कैसे गर्विष्ट हैं जो राजाकी वंदना करनेपर भी कुछ आशीर्वाद नहीं देते। इस प्रकार वे समस्त मुनियोंकी झूंठी निंदा करते हुए शहरको वापिस जाने लगे। मार्गमें जाते समय श्रुतसागर मुनि मिले, उनको देखते ही उक्त मूर्ख मंत्रियोंने उनकी भी हसी की और जैन धर्मकी निंदासूचक मिथ्या आक्षेप कहे। इतना ही नहीं किन्तु उन मंत्रियोंने श्रुतसागर मुनिवरसे विवाद ठान दिया, सूर्यके समक्ष खद्योतोंका कितना प्रकाश ? दिव्यज्ञानधारी श्रुतसागर मुनिके सामने वे क्या तत्व निरूपणा कर सक्ते थे, अतएव वे अवाक् होगये! जिससे वे क्रोधसे पूर्ण होगये, परन्तु साथमें राजा सा० थे अतएव विवश हो कुछ अनिष्ट नहीं कर सके।

श्रुतसागर मुनिवरने यह समाचार आचार्यसे कहे तो उनने कहा कि संघ एक पर भयानक उपसर्ग उपस्थित कर दिया। अब इसका यही प्रतीकार है कि जहांपर तुमसे विवाद हुआ वहांपर ही ध्यानसे मग्न होकर स्थिर होजाओ। श्रुतसागर मुनिने वैसा ही किया।

रात्रिको वे चारों मंत्रिगण राजाके समक्ष अपमानित होनेके कारण विशेष क्रोधित हो समस्त मुनिसंघको मारनेके लिये चले। मार्गमें श्रुतसागर मुनिको देखकर सबने कहा कि इनने ही हमको अपमानित किया है प्रथम इनको ही मारो ऐसा कह उन चारोंने ही अपनी२ तलवार निकालकर एक साथ वार करनेको अपने २ हाथ उठाये।

निर्दोष मुनिके दिव्य तपके प्रभावसे यक्ष देव तत्काल ही वहां प्रकट हुआ और उन चारों मंत्रियोंको अपनी शक्तिसे कील दिया जिससे वे चारों ही जैसेके तैसे ही अंकित रह गये।

प्रातःकाल होते ही समस्त नगर इस विलक्षण कौतुकको देखने आया, स्वयं महाराज भी वहांपर आये और मंत्रियोंके दुष्ट कर्मका दण्ड देशनिकाल देकर घोर उपसर्ग निवारण किया।

राजा और प्रजामें इस चमत्कारसे जैनधर्मकी महिमा पूर्ण रूपसे ज्ञात होगई इसलिये सबने जैन धर्मको स्वीकार किया।

दुष्ट बलि आदि चारों मंत्री हस्तनापुर गये। उस समय वहांका राज्य महापद्म नामके महाराज करते थे। विष्णुकुमार और महापद्म ये भाई थे। विष्णुकुमार दीक्षा लेकर घोर तप आचरण करते भये जिससे उनको अनेक सिद्धियें प्राप्त हुईं—विक्रियाऋद्धि प्राप्त हुई।

दोनों ही भाई परम धर्मात्मा थे। महापद्म यद्यपि एक महान राज्यके स्वामी थे तो भी वे निशंक नहीं थे। उनको सिंहबल नामक राजाका निरंतर भय बना रहता था। उन चारों मंत्रियोंने आकर किसीप्रकार सिंहबलको वशकर महापद्म महाराजको निर्भय किया इससे महाराजने प्रसन्न होकर वर प्रदान किया। परन्तु आ-वश्यक समयपर दीजिये, ऐसा कहकर महाराजको वचनबद्ध रखा।

कुछ समय बाद दैवयोगसे उन सातसौ मुनिका संघ वहांपर विहार करते२ आया। उनको देखते ही उन चारों दुष्ट मंत्रियोंको अपमानका स्मरण होगया और उसका बदला लेनेके लिये यह निश्चय किया कि महाराजसे वह अपना वर लिया जाय, क्योंकि महाराजके

शासनमें कुछ नहीं हो सकेगा, ऐसा विचार कर सात दिनके राज्य शासनके वरकी याचना की और महाराजने भी प्रदान किया।

जहांपर समस्त मुनियोंका संघ था वहांपर राज्य मिलते ही घोर उपसर्ग करना प्रारंभ किया। यह बात एक क्षुल्लकके द्वारा मुनि विष्णुकुमारको मालुम हुई तो वे धर्मरक्षार्थ हस्तनापुर गये और वामनका भेष धारणकर बलिराजासे तीन पाद पृथ्वीकी याचना की और बलि महाराजने वह सहर्ष प्रदान की।

विष्णुकुमारने प्रथम पाद अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा मेरु पर्वतपर रखा और दुसरा मानुषोत्तर पर्वतके समीप इस प्रकार दो पादके धरनेसे ही समस्त नृभूमि पूर्ण होगई। अतएव तृतीय पाद दुष्ट बलि मंत्रीके शिरपर रखा जिससे वह अतिशय लज्जित हुआ। इतना ही नहीं किन्तु उनको सच्चे धर्मका उपदेश दिया जिससे समस्त राजा प्रजा जैनधर्मके परमभक्त हुए। इस महान अतिशय चमत्कारसे धर्मका पूर्ण उद्योत हुआ। धर्मप्रेम समस्त जनतामें जाग्रत हुआ धर्मवृद्धि हुई।

इस प्रकार विष्णुकुमारने केवल धर्म रक्षा ही नहीं की, किन्तु सातसौ मुनियोंके संघपर हार्दिक वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया, विशुद्ध प्रेमसे सबकी रक्षा की, निःस्वार्थ वृत्तिने आत्म समर्पण किया, आत्मीक सहानुभूति दिखलाकर जैनधर्मकी महिमा—उसकी सत्यता सर्वत्र दिखलाई। अतर भी जैनधर्मका विस्तार महान पुण्यका कारण है। इसलिये वात्सल्य भावको हृदयसे पालन करना चाहिये ॥ ४२ ॥

अप्रभावना—धर्म तत्वोंके जाननेमें अज्ञानता रखना, निंद्य

और अशुभ आचरण द्वारा धर्मका अपवाद कराना, धर्मकी महिमा बढानेमें संकुचित होना, कठोर और मायाचारी होना, धर्मके कार्यमें स्वार्थ बुद्धि रखना, दान प्रदान करनेकी शक्ति होनेपर भी अनुदार होना, अतिशय मोही होना, पापाचरणमें आसक्त होना, सरल और प्रेमभावसे दया नहीं करना, दुःखी जीवोंपर सहानुभूति नहीं रखना, सच्चे धर्मके धारण करनेमें हतोत्साह होना, धर्मकार्यमें अपनी शक्तिको छिपाना, धर्मकी महिमा बढानेमें सहायता नहीं करना, धर्मके मिथ्यापवादोंको शक्ति होनेपर भी दूर नहीं करना, सन्मार्गके विस्तार करनेमें प्रमाद रखना, असदाचरणसे सच्चे धर्मका अपवाद कराना, कुदेव, कुशास्त्र, और अज्ञानी पुरुषोंकी विनय करना आदि सब अप्रभावना है।

अज्ञानी और असमर्थ पुरुषोंसे जैनधर्म अथवा उसके धारकोंका अपवाद होता हो, हँसी होती हो, अथवा धर्मकी वृद्धिके कारणोंके ह्रास होनेसे उसकी महनीयतामें कुछ बाधा आती हो, मिथ्यापवादके कारण धर्मका प्रभाव नष्ट होता हो जिससे लोगोंकी धर्म-रुचि कम होती हो, अश्रद्धा होती हो, धर्मकी पवित्रता नष्ट होती हो, तो अपनी शक्तिसे उनको दूर करना प्रभावना है। शक्ति और सब साधन होनेपर भी धर्मके प्रभावमें अनुत्साही होना अप्रभावना है।

धन, ज्ञान, और हार्दिक प्रेमसे अपनी शक्तिका सदुपयोग धर्म रक्षार्थ करना धर्मको स्थिर करना है। शारीरिक—मानसिक और आर्थिक शक्तियोंका उपयोग यदि धर्मरक्षार्थ किया जाय तो प्रभावनाके साथ २ आत्म गौरव भी वृद्धिगत होता है।

अज्ञानी पुरुष जिस समय मिथ्यापवादसे सच्चे धर्मको व्यर्थ दूषित करते हैं, कलंकित करते हैं, उस समय प्रत्येक धर्मात्माका प्रथम कर्तव्य है कि जिस प्रकार होसके धर्मकी रक्षा करें। धर्म परीक्षाके समय अपनी शक्तिका छिपाना, कायर वा उत्साहहीन होना, दृढ़तासे च्युत होकर अविश्वासु होना, कर्तव्यशून्य होकर प्रमादी होना, धर्मकी रक्षार्थ दान नहीं करना अप्रभावना है। उसको दूर करनेसे प्रभावना होती है।

धर्मका महात्म्य, धर्मकी वृद्धि, धर्मकी पवित्रता और धर्मकी महत्वता प्रभावनापर अवलंबित है। इसलिये रथोत्सव द्वारा, मेला वा प्रतिष्ठा द्वारा, जिन महिमा प्रदर्शन द्वारा, शास्त्र विस्तारद्वारा, परोपकार द्वारा और दया द्वारा प्रभावना करनी चाहिये।

धर्मके तत्वोंपर समस्त जीवोंका विश्वास हो, इसलिये जिनागमका विस्तार करना, विद्यापीठ खुलवाना, धार्मिक ग्रन्थोंका दान करना, स्वाध्याय करना, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंको सुयुक्ति, सप्रमाण और मीठे वचनोंसे जैन धर्मका गौरव प्रदर्शित करना, आदि सब प्रभावना है।

सदाचारसे पवित्रता प्रकट होती है और धर्म गौरव बढ़ता है। अपना व्यवहार सदैव पवित्र, और सदाचार युक्त रखनेसे धर्मकी प्रभावना होती है। हिंसा, झूंठ, चोरी आदि पापाचरणोंके त्याग करनेसे महान प्रभावना होती है।

जिन पूजन, जिन चैत्यालय पूजन, निर्वाण क्षेत्र पूजन आदि धार्मिक कृत्योंसे भी महान प्रभावना होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारकोंकी विनय करनेसे और साधर्मि

भाइयोंके उत्तम गुणोंमें प्रेम करनेसे भी प्रभावना होती है।

धर्म प्रभावनासे मन छिपाना, संयमसे आत्म शक्तियोंका संकोच करना, धर्म भावनामें अनुत्साहित होना, स्वार्थ और भयसे सच्चे धर्मका त्याग कर देना धर्मका पालन आत्म कल्याणके लिये नहीं समझना, विद्या दान करनेमें हिचकना, द्रव्यके दान करनेमें अनुदार होना आदि कार्योंसे प्रभावना नष्ट होती है इतना ही नहीं किंतु आत्मगुणोंका ह्रास होता है, शक्तियोंका संकोच होता है, दृढता और भक्ति भावना भी नष्ट होजाती है इसलिये धर्म प्रभावनामें सदैव तत्पर रहना चाहिये। धर्म प्रभावनासे धर्मकी तो वृद्धि होती है परन्तु आत्म भावना सुदृढ होती है जिससे आत्मबल बढता है और निस्पृह भावसे धर्मकी सिद्धि होती है।

प्रभावना वज्रकुमार महाराजने पालन की थी उनका चारित्र यह है—

राजा वज्रकुमारकी कथा।

मथुरा नगरमें पूतगंध नामके अति विचक्षण एक राजा थे। महाराजकी शीलवान, अति धर्मात्मा उरविल्या नामकी रानी थी। उरविल्या जिस प्रकार अति सुन्दर थी उसी प्रकार वह गुणवान थी; संयमसे पवित्र, दयासे पूर्ण, और सम्यक्त्व सहित थी। वह अपना जीवन धार्मिक कार्योंमें ही व्यतीत करती थी। गृहस्थोंके षट् कर्म वह विशुद्ध भावसे पालन करती थी। उसका अधिक समय शास्त्र स्वाध्याय और जिन पूजनादि उत्तम कार्योंमें व्यतीत होता था, वह स्वभावसे भोली और सरल थी।

उरविल्याके यह नियम था कि नंदीश्वर व्रत (अष्टान्हिक

व्रत), षोडश कारण व्रत और दशलाक्षणिक व्रतादिमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा अति भावभक्ति और पूर्ण उत्साहसे करती थी एवं जिन धर्मकी प्रभावनाके लिये सदैव रथोत्सव निकाला करती थी।

एक समय महाराजा पूतगंध नगरका अवलोकन करनेके लिये निकले। मार्गमें दारिद्रा नामकी एक सेठकी सुन्दर कन्याको देख कामके आधीन होगये और उससे विवाह करना चाहा। दरिद्राके मातपिताने महाराजको बौद्ध धर्मका भक्त बनाकर कन्या प्रदान की और महाराजने उसको पटरानी बनाई।

फाल्गुन मासमें नंदीश्वर व्रतका पर्व आया, और उरविल्याने सदाकी भांति रथोत्सव अति धूमधामसे करना चाहा, परंतु यह महोत्सव दरिद्रा पटरानीको अच्छा नहीं लगा। इतना नहिं किंतु उसके मनमें इस प्रकार प्रतिद्वंदी भाव हुए कि बौद्ध धर्मका रथ प्रथम चलाया जाय, और इस बातकी आज्ञा महाराज पूतगंधसे की, क्योंकि महाराजने बौद्ध धर्म इसी पटरानीके लोभसे स्वीकार किया था। ऐसा करनेसे जैनधर्मकी हँसी होनेका समय आयेगा, भोले और अज्ञानी जीवोंको धर्मसे अरुचि होगी—अश्रद्धा होगी, पवित्र और विश्वव्यापी आत्म धर्मकी व्यापकता नष्ट होगी, इतना ही नहीं किंतु जैन धर्मका अपमान होगा, कमजोरी प्रकट होगी, और बौद्ध धर्मकी वृद्धि होगी।

उरविल्याको यह धर्मका अपमान सहन न हुआ। वह यह विचारकर आत्मनिंदा करने लगी कि हाय! मेरे अभाग्योदयसे पवित्र और सच्चे धर्मका अपमान हुआ। धिक्कार है मुझको! इस प्रकार उसको पूर्ण दुःख हुआ, उसने मन ही मन यह प्रतिज्ञा की

कि "जबतक मेरा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा तबतक मैं अन्न पाणी ग्रहण नहीं करूंगी, इस प्रकार दृढ संकल्पकर वह वज्रकुमार मुनीश्वरकी वंदना निमित्त गई, श्री गुरुकी उपासनाकर उसने समस्त वृत्तांत कह सुनाया और अपनी प्रतिज्ञाका भी वृत्त संक्षेपसे कह दिया, इसको सुनकर वज्रकुमारके मनमें राजाकी दुर्बुद्धिसे अत्यन्त ग्लानि हुई, और साथमें उसकी अज्ञतापर दया भी आई।

दैव संयोगसे इस समय दिवाकर प्रभृति कई विद्याधर पूज्यवर वज्रकुमार मुनीश्वरकी वंदनाके लिये आये। मुनीश्वरने धर्मका स्वरूप प्रतिपादन किया, और प्रभावना अंगका विशेष विवरण कहा, इतना ही नहीं किन्तु उर्विलाको उद्देशकर जैन धर्मके अपमानका समस्त वृत्त कह, यह आदेश किया कि 'जैन धर्मकी महिमा प्रकाश करो, यह अवसर सर्वोत्तम है।'

मुनीश्वरकी इस आज्ञाको सुनते ही वे विद्याधर मथुरा गये, और जैन धर्मकी सर्वोत्तम प्रभावनाके साथ रथोत्सव सबसे प्रथम चलाया, पुष्प वृष्टि और गंधोदक वृष्टि आकाशसे की, जैन धर्मकी जय, जैन धर्मकी जय, इस प्रकार दिव्य घोष आकाशसे किया, दुंदुभि बाजे बजाये इत्यादि अनेक चमत्कार हुए जिससे धर्मकी महिमा सर्वत्र फैल गई।

इसी समय वज्रकुमार मुनिवर मथुरा पधारे, और सच्चे धर्मका उपदेश दिया जिसके प्रभावसे राजा प्रजा सबने जैन धर्म स्वीकार किया, व उर्विलाने अर्जिका व्रत लिये। महाराजने विशुद्ध हृदयसे जैन धर्मको ग्रहण किया, सर्वत्र जैन धर्मकी जय जय हुई।

इस प्रकार अपनी शक्तिका उपयोग जैनधर्मकी वृद्धिके लिये करना प्रभावना है। प्रभावनासे धर्म स्थिर रहता है, बढ़ता है, प्रभावित होता है, और प्रमाणित होकर समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला सिद्ध होता है। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रभावना प्रत्येक धर्मात्मा भाईको करना चाहिये ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध और आठ अंग सहित पूर्ण कहलाता है। दोषोंकी निवृत्ति हुए विना आत्माके आभ्यंतर परिणाम विशुद्ध नहीं होते और न तत्त्वोंकी धारणा ही दृढ़ होसक्ती है। विशुद्ध सम्यग्दर्शन संसार संततिको छेद सक्ता है, इसलिए सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि प्रत्येक मुमुक्षुको करना चाहिये। जिस प्रकार अक्षर रहित मंत्र फलसिद्धि नहीं कर सक्ता ठीक उसी प्रकार अंग रहित सम्यग्दर्शन भी संसार बन्धनको नाश नहीं कर सक्ता। इन आठ गुणोंको अंग इसलिये कहा है कि जैसे मनुष्यके शरीरके आठ मुख्य अंग है, और उन अंगोंके समुदायको ही शरीर कहते हैं। जितने अंग कम होंगे उतना ही शरीर अपूर्ण कहलायगा। ठीक इन आठ गुणोंसे आत्मामें सम्यग्दर्शनकी शक्ति उत्पन्न होगई है। अथवा सम्यग्दर्शनका प्रवाह आठ धाराओंमें विभक्त होगया है, सबका मूल एक ही है। इसलिये अंगरहित दर्शन अपूर्ण है—कार्यकारी नहीं है। आठ अंग ही सम्यग्दर्शनका शरीर है। अंगके नाश होनेसे अंगीका भी नाश होजाता है।

इस प्रकार विशुद्ध पूर्ण सम्यग्दर्शन संसारकी परिपाटीको तत्काल ही नष्ट करता है और परमपद (निर्वाण) को प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन विना समस्त व्रत, तप, सदाचारादि सब व्यर्थ

हैं। जिस प्रकार मूल विना वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन विना भी ज्ञान चारित्र उत्तम नहीं कहलाते।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है—सराग और वीतराग। सराग सम्यग्दर्शन प्रशमादि गुणोंसे व्यक्त होता है—प्रकट होता है, अर्थात् सराग सम्यग्दर्शनके बाह्य चिह्न प्रशमादि हैं। और आत्म परिणामोंमें अत्यंत विशुद्ध, अचिंत्य, आत्म गुणोंको विकाश करनेवाली, परम आल्हादजनक शक्तिका प्रकट होना वीतराग सम्यग्दर्शन है। यह साक्षात परमात्मपदको प्राप्त करनेवाला है, अनंत सुखका कारण है, परम शांतमय है, नित्य है, अनुपम है, और कर्म-बंधनको नाश करनेवाला है एवं परम पवित्र है ॥४५॥

प्रशम, संवेग, निर्वेग, निंदा, गर्हणा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकंपादि गुणोंसे सम्यग्दर्शन अनुमित होता है—जाना जाता है, बाह्यमें व्यक्त होता है ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार शरीरके अंदर आत्मा सुखादिक गुणोंसे व्यक्त होती है अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय और अमूर्त है इसलिये वह दृष्टिगोचर नहीं है तो भी सुख आदि गुणोंसे उसके अस्तित्वका निश्चय होता है और बाह्यमें यह निश्चय धारणा होती है कि इस शरीरमें अवश्य आत्मा है अन्यथा इसको सुखादिका ज्ञान नहीं होता। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आत्माका विशुद्ध परिणाम है। आत्मा अमूर्त है सम्यग्दर्शन भी उसी प्रकार अमूर्त है। इस जीवमें सम्यग्दर्शन है या नहीं? इसकी पहिचान उक्त गुणोंसे प्रकट होती है। जिस जीवकी बाह्यक्रिया प्रशमादिरूप हो तो समझना चाहिये वह सम्यग्दृष्टी भव्य जीव है। जिस जीवके

बाह्य कारणोंमें (बाह्य व्यवहार, चालचलन, और उसके कार्योंमें) प्रशमतादि नहीं है उसके आभ्यंतर परिणाम भी विशुद्ध नहीं हैं, शांत नहीं हैं, सरल और अनुभाविक नहीं हैं, इसलिये उक्त गुण सम्यग्दर्शनके अभिव्यंजक हैं। अथवा इन गुणोंसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥४७॥

प्रशम—रागद्वेष (क्रोध, मान, माया, लोभ) आदि विकार भावोंका-आत्माके परिणामोंमें उपशम होना प्रशमगुण है। कषायोंसे जितनी आत्मा शांत होगी उतनी ही प्रशमादि गुणोंकी वृद्धि होगी। कषायोंसे आत्माकी आभ्यंतरवृत्ति मलिन और कुटिल रहती है जिससे आत्मपरिणामोंकी सरलता और आत्म भावना नष्ट होजाती है। जिस जीवके अनंतानुबन्धी क्रोधादि विकार हैं उसके रागद्वेष भी तीव्र है—वह जीव आत्म स्वरूपको नहीं पहिचान सक्ता, तत्वोंके सत्स्वरूपमें अपनी आत्मभावना स्थिर नहीं रख सक्ता। ऐसे जीवके सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सक्ता। इसलिये सम्यग्दर्शनकी मुख्य पहिचान यह है कि जो परम शांत हो, सरल हो, सदैव प्रसन्न रहता हो और स्वभावसे क्रोधादि विकारोंसे मुक्त हो, वही सम्यग्दृष्टि है।

परिणामोंकी शांततासे समस्त व्रत सुशोभित होते हैं ॥४८॥

संवेग—सदाचरण और उसके फलमें रागभावका होना संवेग है। अथवा धर्म और धर्मके फलमें अनन्य भावसे आसक्त होना संवेग है। संसारी जीव बाल हैं (अज्ञ है) जिस प्रकार बालक कुछ लोभके वश होकर कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार

१ यद्रागादिदोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणं।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ १ ॥

संसारीजीव धर्म और धर्मफलको श्रवणकर सदाचार धारण करते हैं, धर्म पालन करते हैं। इसका भी कारण एक यह है कि संसारी जीव रोगीके समान है, दुःखोंसे अतिशय डरते हैं और सुखको चाहते हैं। यह कार्य धर्मके धारण करनेसे ही होसक्ता है, परन्तु जिस प्रकार रोगी औषधि पीनेमें हिचकता है इसलिये चतुर वैद्य उस कडवी औषधिपर कुछ मिठाई लगा देता है उस मीठापनके लोभसे वह बालरोगी कडवी औषधिको भी खा जाता है और सुखी होता है। संसारीजीव भी धर्मके फल (स्वर्गादि और भोगादिकी प्राप्ति) को श्रवणकर (क्योंकि वह अच्छा लगता है, उसकी प्रकृतिके अनुकूल है) धर्मको धारण करता है जिससे उसका जन्म मरणका दुःख नाश होता है और अक्षय अनंत सुख प्राप्त होता है।

इसलिये धर्मपर प्रेम करना व धर्मको अपना कर्तव्य समझना चाहिए। धर्म ही संसारके दुःखोंसे दूर करनेवाला परम हितकारी है और आत्मीक सुखको देनेवाला है। इस भावसे धर्मको विशुद्ध हृदयसे धारण करना है, परम प्रेम करता है, उसके सेवन करनेमें लीन होता है, उसको सर्वस्व भावसे चाहता है—सदैव धर्म भावनामें अनुरक्त रहता है, और धर्मके अनिंद्य कार्य करनेमें अपना जीवन पूर्ण करता है व सदाचार पालन करता है, विषय, कषाय, और भोगोंसे विरक्त होता है, पुत्र मित्र, कलत्र और शरीर संबन्धी मोहको व्याधिका कारण समझता है। संसार ही दुःखका कारण है ऐसा जानता है और इसीलिये वह उच्च और आदर्श कार्य करता है, आत्म भावनामें मग्न होता है। यही संवेगता है।

निर्वेग-शरीर, संसार और भोगोंसे विरक्त होना निर्वेगता है। यह शरीर जड़ है, विनाशीक है, अशुचिमय है, कर्मोदयसे प्राप्त हुआ है, इसके संयोगसे यह जीव शारीरिक, मानसिक और आगंतुक दुःखोंको प्राप्त होता है, आधि व्याधि और भयानक वेदनाका अनुभव करता है। यह ऊपरसे स्वप्नके समान मोहक दिखता है परन्तु सर्व दुःखोंकी खानि यह शरीर ही है। इस प्रकारके विचारसे भव्य जीव इस शरीरसे विरक्त होते हैं और सत्कार्य करनेमें अनुरक्त होते हैं।

संसार जन्म मरणके दुःखोंसे परिपूर्ण है और समुद्रके समान अतृष्ण है। इस संसारमें जीवने राजा महाराजा आदि अनंत उत्तम भव धारण किये तो भी जन्म मरणका दुःख नहीं मिटा। प्रत्युत जैसे जैसे संसारकी अधिक चाहना की गई दुःख भी वैसे वैसे अधिक बढ़ता गया। संसारमें कुछ भी सार नहीं है, इस प्रकारके विचारसे जीव संसारसे विरक्त होता है और आत्म-भावनामें लीन होता है।

विषय-पांच इन्द्रियोंके विषय मधु-लपेटी तलवारके समान हैं। एक एक इन्द्रियोंके विषयसे यह जीव अपार दुःखको प्राप्त होता है। ये विषय ही संसारबंधनके कारण हैं इस प्रकारके विचारसे यह जीव विषयोंसे विरक्त होता है। इस प्रकार इनकी विरक्ततासे यह जीव आत्म चिन्तवनमें लवलीन होता है, दुर्धर तप धारण करता है और समस्त मोहको त्यागकर आत्मस्वरूपमें मग्न होता है, जिससे शीघ्र ही परमात्माके पदको प्राप्त होजाता है-संसारमें निर्वेगता ही निर्भयका कारण है ॥ ४९ ॥

निंदा—मन, वचन और शरीरके विकारसे आत्म प्रदेशोंका हलन चलन होता है। जीवोंके समस्त शुभाशुभ कार्य मनवचन और शरीर द्वारा ही होते हैं इसलिये समस्त कार्योंके कारण मन वचन काय हैं।

समस्त कार्य स्वयं किये जाते हैं अथवा दूसरोंसे कराये जाते हैं व कभी किसी कार्यमें अपनी अनुमति भी दी जाती है। इस प्रकार कृत, कारित और आमोदनासे कार्य करनेकी पद्धति तीन प्रकार हैं। आत्मभावोंकी समानता तीन प्रकार हो सकी है।

यदि उक्त कार्योंमें कषायोंका विशेष उदय हो तो बंध भी तीव्र रसात्मक होगा। इन सब बातोंका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि संसारमें जीवात्मा एकसौ आठ प्रकारसे कर्म बांध सक्ता है, और उन सब धाराओंमें आत्मपरिणाम एक समान लग सक्ते हैं। इसलिये यह जीव मन, वचन और काय योगसे अनंत प्राणियोंका विध्वंश करता है, चोरी करता है, झूंठ बोलता है, कुशील सेवन करता है और अपार तृष्णामें लालायित रहता है, दूसरोंके अहितकी अनेक कल्पनाएँ मनमें सोचता है, अनिष्ट वचन बोलता है शरीरसे अनेक भली बुरी क्रियायें करता है व अनेक पापाचरणोंकी चेष्टा करता है। इन सब कामोंमें जीवात्माके मन वचन काय ही कारण हैं। राग द्वेषकी प्रवृत्ति भी इनसे ही होती है और अनंत दुःखोंका कारण ऐसा घोर कर्मका बंध इनसे ही होता है। जीव अनादिकालसे जन्म मरणका दुःख भोग रहा है उसके भी कारण उक्त मन वचन काय हैं।

मन वचन कायका चक्र निरंतर चलता ही रहता है। ऐसा

कोई समय नहीं है कि इनका कार्य बंद होता हो। इनकी गति अविरोधसे सतत है। सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते, पढ़ते, खाते पीते प्रत्येक अवस्थामें इनका चक्र चलता ही रहता है। इस चक्रमे जीवात्मा सतत् अनंत कर्मोंका बंध करता है।

जो कार्य जिन कारणकलापोंसे होता है, उन कारणकलापोंका रोक देना कार्यका रोकना है। इसलिये मन वचन और कायकी क्रियायें रोकनी चाहिये और उसके लिये ध्यान, संयम, सामायिक, तप, व्रतादि, उत्तम कार्य करना चाहिये। कदाचित् मन वचन कायके रोकनेकी शक्ति अपनेमें न हो तो मन वचन कायकी प्रेरणासे हुए अशुभ हिंसाजनित कार्योंकी आत्मनिंदा करे।

हाय! हाय! मैंने राग द्वेषके वश हो अनंत जीवोंकी विराधना की, दुष्ट कार्य किये, पापमय व्यापार किया लोभके वश कुत्सित व्यापारमें अनंत जीव मारे, परस्त्री सेवन की, परिग्रहकी तृष्णामें स्वार्थवृत्तिसे चोरी की, कमती बढती तोला, झूठे लेख लिखे, मायाचारसे अनिष्ट कार्य किये, असदाचरण धारण किया, भक्षाभक्ष पदार्थ सेवन किये, प्रपंच और कूट कर्मसे अन्य जीवोंको ठगा, झूंठ बोलकर दूसरे जीवोंको कष्ट पहुचाया। आक्रोश वचन कहे, हाय! हाय! मैंने दूसरोंका बुरा विचारा, अनिष्ट चिंतवन किया, परधन हरण करनेकी इच्छा की, हाय! मैंने अपने स्वार्थसे अनेक जीवोंका दिल दुखाया, हाय! मैं बड़ा पापी हूं, निंद्य हूं, क्रूर कर्मका करनेवाला हूं, हाय! मैं दुरात्मा हूं, मायाची हूं, वंचक हूं, रागद्वेषसे मलिन हूं, हाय! हाय! मैंने अनंत घोर पाप किये इत्यादि अनेक प्रकार अपने किये हुए कर्मोंकी

निंदा करे, उनका चिंतवन करे, अपनी आत्माके बुरे कर्तव्योंकी आत्म निंदा करे ऐसा करनेसे वह पाप-कर्मसे अवश्य भयभीत होगा और अपने बुरे कर्मोंका चिंतवन करनेसे पुनः पापकर्म करनेमें विचार करेगा—उनके छोड़नेके लिये प्रयत्न करेगा, सदाचारसे अपना जीवन पवित्र और निर्दोष बनायेगा, आत्म कल्याण करनेमें तत्पर रहेगा, अशुभ प्रवृत्तियोंको रोकेगा, वीत-राग अवस्थाका चिंतवनकर आत्म स्वरूपमें स्थिर रहेगा, दयाको अपना कर्तव्य समझेगा समस्त जीव मात्रको आत्मबंधु समझकर सबकी भलाईमें आत्म भलाई समझेगा।

आत्मनिंदासे कुत्सित कर्मोंसे ग्लानि होती है व संसार विष समान भयंकर प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसे जीव संसारके समस्त कार्य कर्मोदयसे करते है तथापि उनकी आत्मभावना उक्त कर्मोंसे विरक्त रहती है। संसार नाट्यशालामें अनेक भेष धारण करता है तो भी वह तद्रूप अपनेको नहीं मानता, विषयोंमें आत्म प्रीति नहीं करता, उनकी वारवार आलोचना और प्रत्यालोचना करता है, वह उनका भोग करते हुए भी विवश रोगीकी तरह अपना कार्य करता है और उनके त्याग करनेका अवसर सदैव ढूंढता रहता है।

आत्म निंदासे कृतकर्मोंकी निर्जरा होती है, और कर्मोंका रस तीव्र नहीं होता है, इतना ही नहीं किंतु वह कर्मोंके फल भोगनेमें सुख दुःख नहीं मानता हुआ आत्मस्वरूपका विचार करता है इसलिये जो जीव अपने किए कर्मोंकी निंदा करता है, आलोचना करता है उसके आत्म गुणको जाननेसे सम्यक्त्व प्रादु-र्भाव होता है। यह निंदा आत्मसाक्षीसे होती है।

आत्मनिन्दाके लिये मिच्छामि पाठ पढ़ना चाहिये, समस्त जीवोंसे अपनी विराधनाकी क्षमा मांगनी चाहिये। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, द्वेष, वैर, अशुभ चिंतवन, आर्त रौद्र ध्यान, निदान, मात्सर्य, मोह और अज्ञानको दूर करना चाहिये। सामायिक शुभ भावोंसे करना चाहिये, ये चिह्न भी सम्यक्त्वके प्रदर्शक हैं।

गर्हा—गुरु अथवा तीर्थंकरके समक्ष पडिक्कमण करना, आत्म दोषोंको निवेदनकर पश्चात्ताप करना गर्हा है। आत्म निंदासे गर्हा अति कठिन और गुरुतर है, क्योंकि जीव मोहनीय कर्मके उदयसे अपने कृत कर्मोंकी आलोचना दूसरोंके सामने प्रकट करनेमें हिचकता है, अपने कुत्सित कर्मको प्रकट करनेमें लज्जित होता है। बहुत ऐसे पाप हैं जिनको यह जीव किसीसे कह नहीं सक्ता और ऐसा करनेमें अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। मर्यादाको भंग करनेसे मन ही मनमें आकुलित होता है परन्तु प्रकटरूप दूसरोंके साथ कह नहीं सक्ता, इसलिये गर्हा करना सचमुच दोषोंको छोड देनेकी अपेक्षा कठिन है। सदाचरणमें मनकी सूक्ष्म क्रियासे अतीचार, अनाचार, (अतिक्रम व्यतिक्रम) अनेक दोष लगते हैं। क्योंकि जीव बडा प्रमादी है, मोहनीय कर्मके उदयसे मायावी है, लोभी है रागी, द्वेषी है, दुर्बुद्धि है, असदाचारी है, इसलिये अनेक हिंसा जनित कार्य इससे होते हैं। पापवृत्ति द्रव्य क्षेत्र कालके निमित्त होजाती है। मन, वचन, कायकी कुप्रवृत्तिसे अनिष्ट और दुराचार होनेकी सदैव संभावना रहती है, संभावना ही क्यों, आत्मसंयमी होनेपर भी अशुभप्रवृत्ति हो ही जाती है। इसलिये

आत्मभावोंको विशुद्ध रखकर आत्मगर्हा करनी चाहिये जिससे पापाचरणमें प्रवृत्ति होनेसे भय हो। कुप्रवृत्तिसे अपनी आत्म भावना करे और वीतराग भावमें स्थिर रहकर अनंत सुखको प्राप्त करे। यह गर्हा भी आत्म भावोंकी विशुद्धिसे होती है अतएव सम्यक्त्वका कारण है।

भक्ति—अरहंत, श्रुत, गुरु, जिनधर्म और तपमें विशेष अनुराग भक्ति है। भक्ति भावना, गुणानुराग और हार्दिक प्रेमसे होती है। परमात्मपदकी प्राप्तिके लिये यदि सबसे सरल और सच्चा उपाय है तो एक मात्र भक्ति है, अति उच्च कोटिके कार्य संसारमें भक्ति सिवाय और अन्य किसीसे सिद्ध नहीं होसक्ते। भक्ति आत्म परिणामको ऐसा उत्कट और प्रेममय बना देती है कि जिससे असाध्य और गुरुतर कार्य अति सुगमतासे सहज प्राप्त हो जाते हैं। भक्ति भावनामें वह विलक्षण अपार शक्ति है कि जो बातें चमत्काररूप होनेसे असंभाव्य प्रतीत होरही हैं वे सब स्वयमेव सिद्ध होजाती हैं। सर्पसे हार होना, विषसे अमृत होना, अति असाध्य महामारी और गलित कोढसे तत्काल अति मनोहर दिव्य शरीरवाला होना ये सब अद्भुत चमत्कार भक्तिके हैं। असाध्यसे असाध्य और कठिनसे कठिन बात भी भक्तिभावसे तत्काल सिद्ध हो जाती है।

बहुतसे मनुष्य ऐसे कार्योंको गप्प समझते होंगे परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है, वे भक्तिमार्गको जानते ही नहीं, भक्तिके लिये ये सब बातें साधारण हैं किंतु भक्तिसे यह आत्मा स्वयं परमात्मा होजाता है, तो उन सिद्धियोंके लिये सशंक होना अनुचित है।

गुणानुराग और सच्चे प्रेमका कार्य भक्ति है। आत्मामें अनंत शक्ति है, त्रिलोकको वह अपने स्वाधीन कर सकती है, आत्माकी ऐसी शक्तिका विकाश भक्तिसे होता है। आत्माका असली रूप वीतराग अवस्था है, वह अवस्था मोहकर्मके उदयसे उससे बिलकुल विपरीत रागी होरही है। ऐसी आत्मा यदि वीतराग हो सक्ती है तो मात्र एक अरहंत भगवानकी भक्तिसे होगी।

गृहस्थोंके कर्तव्योंमें सबसे प्रथम कर्तव्य जिनपूजन है, और यह जिनपूजनादिक कार्य विना भक्तिके नहीं होसक्ता। भक्ति अनन्य मन होकर अपना सर्वस्व और आत्मबल समर्पण कर देती है। भक्ति अपने प्यारे प्राणोंको दूसरोंके स्वाधीन करनेमें पीछे नहीं पड़ती।

भक्ति—क्यों करनी चाहिये? इस प्रकारका प्रश्न प्रायः सबको होता ही है। इस प्रश्नका समाधान यह है कि जिस समय हम अपनेसे कुछ अधिक गुण दूसरेमें देखते हैं, तब उन गुणोंको ग्रहणकी भावना या आंतरिक प्रेम होता है। यह प्रेम ही भक्तिका उत्पादक है। सबसे उत्कृष्ट गुण अरहंत भगवानमें है। वे गुण अन्य देवोंमें नहीं हैं। इसलिये अरहंत भगवानके अनंत ज्ञानादिक गुणोंको ग्रहण करनेकी भावना जब अपने मनमें जाग्रत होती हैं तब भक्ति करनेका अनुराग होता है। भक्तिसे समन्तभद्रस्वामीने शिवपिंडीको तोड़कर चंद्रप्रभ स्वामीका दर्शन किया। भक्तिसे ही मानतुंगकी वेडी टूट गई। भक्तिसे ही सेठके पुत्रका विष नाश हुआ। भक्तिसे मैनासुंदरीने अपने स्वामीका कोढ़ नष्ट किया। वर्तमान समयमें भी भक्तिसे मनुष्य अनेक विघ्नबाधाओंको नष्टकर

सुख संपत्ति प्राप्त करते हैं । मनके मनोरथ भक्तिसे अवश्य ही सिद्ध होजाते हैं इसलिये भक्ति सबको करनी ही चाहिये ।

भगवानके जन्मकल्याणकपर इन्द्र भक्तिसे कैसा उत्सव करता है इसलिये वह दूसरे भवमें ही मोक्षका अधिकारी होता है । रावणने व्याल मुनीश्वरकी भक्ति कैलासगिरीपर की जिसके फलसे तीर्थंकर कर्मका बन्ध हुआ । परमात्म पदकी प्राप्तिका सरलसे सरल मार्ग एक भक्ति है । कोई भी कार्य करो—सबसे प्रथम श्री जिनेन्द्र भगवानके नामका उच्चारण करो । खाते पीते बैठते उठते चलते और व्यापार करते हुए भी भगवानके नामको मत भूल जाओ । संसारके समस्त कार्य करते हुए भी अपना ध्यान प्रभुके गुणोंमें ही लगा रहे, तल्लीनता बनी ही रहे, मनकी वृत्ति सदा प्रभुके गुणोंमें ही मग्न रहे इसको भक्ति कहते हैं ।

आस्तिक्य—सम्यग्दर्शनको व्यक्त करनेका कारण एक यह भी है । सच पूछो तो जबतक आस्तिक्य भाव जागृत नहीं हुए हैं तबतक न संवेग है न प्रशम है, न निर्वेग है और न भक्ति ही है । सब गुणोंका कारण आस्तिक्य है इसलिये आस्तिक्यका स्वरूप अवश्य जान लेना चाहिये ।

देव, शास्त्र, व्रत, तत्व और परलोक आदि पदार्थोंमें श्रद्धा रखनेको आस्तिक्य भाव कहते हैं और इसके विपरीत भावको नास्तिक्य कहते हैं ।

दान पुण्य, देवाराधन, जप, तप और परोपकारके कार्य इस आस्तिक्य भावसे ही होते हैं । आत्माके आस्तित्वकी इस भावसे व्यक्तता होती है । आस्तिक्य भावको धारण करनेवाले

भव्यजीव पापसे डरते हैं, दूसरोंकी निंदा करते भयभीत होते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि पापोंसे ग्लानि करते हैं और समस्त जीवोंकी दया पालन करना आदि पुण्यके कार्य करते हैं।

आस्तिक्य भावको धारण करनेवाले भव्य जीवोंके विचारोंमें ऐसी दृढ श्रद्धा बनी रहती है कि 'मैं जो पाप कर्म करूंगा उसका परलोकमें फल अवश्य ही भोगना पडेगा इसलिये पाप कर्मोंका परित्यागकर पुण्यके कार्य करूं'' इसी भावनासे प्रेरित होकर आस्तिक्य भावनावाले जीव पापसे डरकर पुण्यके कार्य करने लग जाते हैं। और इसी भावनासे जीव कर्म फंदको तोडकर मुक्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयास करने लगता है। घोर उपसर्गोंको सहनकर जो भव्य अपने ध्यानसे जरा भी विचलित नहीं होते हैं इसका कारण यही है कि उनके परिणामोंमें तत्वोंके स्वरूपकी ऐसी दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि होरही है जिससे वे बाह्य स्वरूपपर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणोंमें तन्मय होजाते हैं इसलिये आस्तिक्य गुणसे सम्यग्दर्शनकी व्यक्तता होती है।

अनुकंपा-दयाको कहते हैं। समस्त जीवोंकी रक्षा करनेके विशुद्ध परिणामोंका होना अनुकंपाका फल है। अनुकंपा धारण करनेवाले दयालु पुरुषकी आत्मा दयासे ऐसी स्निग्ध होजाती है कि वे किसीको दुःखी अवस्थामें देख नहीं सक्ते हैं। उनकी भावना सदैव ऐसी बनी रहती है कि दुःख जैसा मुझको कष्ट देता है वैसा इन सबको देता होगा। दुःखको दूरकर जैसे मैं सुखी होना चाहता हूं वैसे ही ये जीव भी सुखी होना चाहते हैं इस लिये मैं इनके दुःखको दूर करूं, ऐसी विशुद्ध भावनासे वह

समस्त जीवोंपर अपार दया दिखलाता है। तुच्छसे तुच्छ, और छोटेसे छोटे जीवपर भी वह वैसी ही सहानुभूति रखता है जैसी कि बलवान पंचेंद्रिय जीवपर होती है। उसकी दृष्टिमें एक इंद्रिय और पंच इंद्रिय जीवमें एक समान आत्मा है इसलिये वह सब जीवोंको सुख और शांति प्राप्त करानेका प्रयत्न करता है ॥१६॥

जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनसे आत्माके अस्तित्वका ज्ञान होता है उसी प्रकार इन प्रशमादि गुणोंसे इस जीवमें सम्यग्दर्शन है, ऐसा व्यक्त रूप ज्ञान होता है।

आत्मा अमूर्तीक द्रव्य होनेसे इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं है। सम्यग्दर्शन भी उस आत्माका अमूर्तीक गुण है इसलिये वह भी इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं है। परन्तु आत्माके कितने ही गुण ऐसे भी हैं जो कि अनुभवमें सबको प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रतीत होजाते हैं। जैसे ज्ञान और दर्शन गुणोंका अनुभव सबको होता है वैसे सम्यग्दर्शन गुणका अनुभव दूसरे जीवको नहीं होता है कि इस जीवके सम्यग्दर्शन है तो भी प्रशमादिक गुणोंसे यह व्यक्त होजाता है कि इस जीवके सम्यग्दर्शन नियमसे है।

सम्यग्दर्शन आत्माका आल्हादजनक परिणाम है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन होता है उसका अनुभव उस जीवको होता है तो भी उसके बाह्य प्रशमादि गुणोंसे दूसरे जीव भी निश्चय कर लेते हैं कि इस जीवके नियमसे सम्यग्दर्शन है। इसी लिये व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण बतलाया है। जिनके व्यवहार सम्यग्दर्शन (देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धारूप) है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त हो ही जाता है, परन्तु जिसके

व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। इसलिये भव्य जीवोंको अपने परिणाम सदैव सरल शांत और निष्कपट रखना चाहिये तथा प्रशम गुणोंको धारणकर सम्यग्दर्शनको समुज्वल बनाना चाहिये।

बहुतसे मनुष्य सदाचारको शरीरकी पवित्रताका कारण मानते हैं और सम्यग्दर्शनको इन्द्रियं ज्ञान जनित श्रद्धा मानते हैं सो इस प्रकार मान्यता आगमके अनुकूल नहीं है मिथ्या है क्योंकि सदाचार दो प्रकारका है। निश्चय चारित्र तो आत्मरूप होनेसे आत्मासे भिन्न है उसको कथंचित आत्माका गुण कह सके हैं जो आत्माको छोड़कर अन्यत्र रह नहीं सक्ता। जिस समय आत्मा अपने असली स्वरूप (अरहंत अवस्था स्वरूप) को प्राप्त होता है तब उस आत्माके यह चारित्र प्रकट होता है और सिद्ध अवस्थामें भी अनंतकाल पर्यंत ज्ञानादिक गुणोंके समान रहता है। व्यवहार चारित्र आत्माके अमूर्तीक स्वभावको व्यक्त करनेका कारण है। इसलिये वह भी कथंचित आत्मानुरूप ही है। कार्यकारणमें भेदकी अपेक्षा नहीं रखनेसे कारण भी कार्यरूप ही कहे जाते हैं। इस लिये व्यवहार चारित्र भी आत्मानुरूप है। उसको शरीर सम्पत्तिके लिये ही मानना यह भूल है। यह बात दूसरी है कि व्यवहार चारित्रको पालन करनेसे शरीर भी समुज्वल बना रहे। परंतु व्यवहार चारित्रका उद्देश्य निश्चय चारित्रकी सिद्धि है। और सम्यग्दर्शनको इन्द्रियजनित ज्ञान या श्रद्धा मानना नितांत भूल है क्योंकि इन्द्रियोंको इन्द्रियरूप मानना वस्तु स्थिति है, इस प्रकारकी श्रद्धा तो जैनागम भी कहता है परन्तु इंद्रियोंको आत्मा मानकर श्रद्धा

करना प्रत्यक्ष ही विरोधजनक है । इंद्रियं जड पदार्थ हैं, उनमें आत्माके आस्तित्वकी शक्ति नहीं है । जिस समय शरीरसे जीव निकल जाता है तब इंद्रियोंका आस्तित्व रहनेपर भी सुख दुःखका अनुभव रूप कार्य नहीं होता है । इसलिये इंद्रियां आत्मा नहीं हैं । एक शरीरमें पांच इंद्रिय होनेसे एक शरीरमें पांच आत्माकी कल्पना करनी पडेगी इसलिये भी इंद्रियोंको आत्मा नहीं कह सक्ते हैं । इसलिये सम्यग्दर्शनका विषय इंद्रियजनित ज्ञान या श्रद्धा मानना भूल है । सम्यग्दर्शन आत्माका गुण और उसका विषय आत्मा ही है, इंद्रियां नहीं है ।

इस मिथ्याचारित्र और मिथ्याज्ञानको परित्यागकर सम्यग्दर्शनको विशुद्ध रखना चाहिये । जो मनुष्य मिथ्याचारित्र और मिथ्या ज्ञानको धारण करते हुए भी सम्यग्दर्शनका सद्भाव स्वीकार करते हैं वे भूलमें हैं । जिन मनुष्योंके जिनागमके सर्वांशोंमें विश्वास नहीं है, उनके सम्यग्दर्शन नहीं है और जिनके व्यवहार चारित्र (कुल परंपरागत सदाचार धर्मानुकूल रीति रिवाज—और भोजनादिक पान व्यवस्था आदिको व्यवहार चारित्र कहते हैं तथा विशुद्ध हिंसा झूठ आदि पंच पापके त्यागको भी व्यवहार चारित्र कहते हैं) नहीं हैं उनके भी सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता नहीं है । जो मनुष्य व्यवहार चारित्रको धर्मरूप नहीं मानता है अन्यकारण रूप मानकर जिनागमकी आज्ञाका उल्लंघन करता है वह अवश्य ही मिथ्यात्वी है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों एक हैं, अभिन्न है । ये तीनों आत्मासे भिन्न नहीं है । आत्मामय

है, आत्मरूप है, इसलिये तीनोंको धारणकर सच्चा सुख प्राप्त करो। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका परित्याग करो ॥ ९४ ॥

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इस प्रकार सात प्रकृतियोंके शांत होनेपर उपशम सम्यग्दर्शन क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन, और क्षयोपशम होनेसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है। अथवा चारित्र मोहनी कर्मकी चार प्रकृति तथा मिथ्यात्व प्रकृतिके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शन, सातों प्रकृतियोंके समूल नाशसे क्षायिक सम्यग्दर्शन और सर्वघाति प्रकृतियोंके उपशम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर जो सम्यग्दर्शन होता है उसको क्षायोपशमिक कहते हैं। परन्तु तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमें तत्वोंका श्रद्धान अविचल रहता है। तत्वोंका विपरीत या संदेहात्मक श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शनकी सत्ता नष्ट हो जाती है।

ये तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन आत्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव करानेवाले हैं। इनसे आत्माका बोध होता है। और कुछ समयके लिये आत्मा अपने स्वरूप कथंचित मग्न भी हो जाता है।

जिन जीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई है वे शीघ्र ही संसारकी परिपाटीको नष्टकर केवलज्ञानरूपी ज्योतिद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे, अनंतसुखको प्राप्त होंगे और संसारके सम्स्त बंधनोंको तोड़कर पूर्ण स्वतंत्र हो जायंगे, कर्ममलरहित अविचल दशाको प्राप्त हो जायंगे या परमात्मस्वरूप हो जायंगे। इस लिये सम्यग्दर्शन आत्माको परमात्मारूप होनेका मुख्य साधन

है। इसके विना आत्मा अपने गुणोंकी उन्नति नहीं कर सक्ता और न सुखकी प्राप्ति ही कर सक्ता है। इसलिये सम्यग्दर्शनके समान और कोई सुखका कारण नहीं है और मिथ्यात्वके समान दुःखका कारण कोई नहीं है।

इन तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमेंसे क्षायिक सम्यग्दर्शन आत्माको मोक्षमार्गमें साक्षात् संयोजित करता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीवको नियमसे मोक्ष होती है। यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता है इसी लिये इसको आदि और अनन्त कहते हैं।

सम्यग्दर्शनके एक दो तीन दश आदि बहुतसे भेद है। निश्चय सम्यग्दर्शन एक रूप ही है। सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं। आज्ञोद्भव १, मार्गोद्भाव २, उपदेशोद्भव ३, सूत्रोद्भव ४, बीजोद्भव ५, संक्षेपार्थोद्भव ६, विस्तारार्थोद्भव ७, अर्थोद्भव ८, अवगाढ ९, और परमावगाढ १० इस प्रकार दश भेद हैं॥ ५७॥

अब इनका संक्षेपसे स्वरूप कहते हैं—

आज्ञा सम्यदर्शन—श्री वीतराग सर्वज्ञ देवने पदार्थोंका स्वरूप जैसा वर्णन किया है वह उसी प्रकार है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार हो नहीं सक्ता। इस प्रकार दृढ श्रद्धानसे जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित पदार्थोंका शंकादि दोषरहित यथार्थ श्रद्धान करना सो आज्ञा सम्यक्त्व है।

आज्ञा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला भव्य जीव आगमकी प्रमाणताको निश्चयकर अपने विचारोंको आगमके अनुकूल ही

रखता है, जिनागमके अर्थमें संदेह नहीं करता है, चारों अनुयोग समान शास्त्रोंको जिनेन्द्र देव प्रतिपादित समझकर सत्य मानता है।

इस आज्ञा सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला भव्य जीव जिनागमके अर्थमें संदेह उत्पन्न हुआ तो तर्क कर सक्ता है। परंतु वह आगमके अर्थके अनुकूल ही करता है। क्योंकि उसको यह दृढ निश्चय रहता है कि समस्त अर्थ इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं हो सके। इसलिये श्री जिनदेवने जो कुछ कहा है वह सर्वथा ही सत्य है। वह भव्य जीव–प्रबल युक्ति और बुद्धिके चमत्कारसे जिनागमके विरुद्धार्थको सत्य नहीं मानता है। और न ऐसे चमत्कारसे विस्मय होकर अन्यथा श्रद्धान करता है। अथवा लोगोंकि देखादेखी सन्मार्गको भूलकर अन्यथा मानने नहीं लगता है। लोभ, आशा और भयसे भी अन्यथा होनेकी संभावना नहीं करता है। निंद्य वासना और कुत्सित अभिप्रायसे मिथ्या तर्कोंके द्वारा वह पदार्थोंके स्वरूपको अन्यथा होना मानता ही नहीं है।

मार्गोद्भव सम्यग्दर्शन—सर्वज्ञ वीतरागद्वारा आचरण किये हुए रत्नत्रयरूप मार्गको ही सत्य मार्ग समझकर "इस मार्गसे अन्य मार्ग सत्य नहीं है" ऐसी दृढ श्रद्धाको धारणकर रत्नत्रय मार्गमें विश्वास करना सो मार्गोद्भव सम्यग्दर्शन है।

रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग निर्ग्रंथ लिंगसे और जिनागममें कहे हुए आचरणको धारण करनेसे व्यक्त होता है परन्तु इस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके स्वरूपको समग्र अवस्थामें ही कहना चाहिये और जिनागमके अनुसार विशुद्ध चरित्रको पालन नहीं करनेवाले जैनाभासोंको रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गका अनुयायी मान-

झना। अथवा आचरण रूप रत्नत्रयके अंशको छोड़कर ज्ञान अंशसे मोक्षमार्ग मानना सो मिथ्या दर्शन है। मार्गमें संशय या विपरीत कल्पना करना मिथ्यात्व है। मार्गोद्भव सम्यग्दृष्टि ऐसी कल्पनाको सत्य नहीं मानता है।

- रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके स्वरूपसे अन्यथा-स्वरूपको धारण करनेवालोंको मोक्षमार्गका अनुयायी मानना या रत्नत्रयरूप मार्गकी कल्पना कल्पित है। ऐसा भ्रम उत्पन्नकर मोक्षमार्गको सत्य नहीं मानना, अथवा व्यवहारसे निर्ग्रंथ और सग्रन्थ भेद हैं, निश्चयसे सब एक ही हैं, ऐसा कहकर जैन और जैनाभासोंको एकरूप मानना सो सब मिथ्यात्व है।

मार्गानुयायी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गमेंसे किसी एक मार्गके स्वरूपको नहीं माननेसे या उनके स्वरूपको अन्यथा कल्पना करनेसे मार्ग नहीं मानते हैं। और न वे उसको मार्गका अनुयायी ही समझते हैं। जो मार्गसे अन्यथा चलनेवालोंको और मार्गानुकूल चलनेवालोंको एक समझता है वह तीव्र मिथ्यात्वी है।

श्री जिनेन्द्र भगवानके मार्गकी ऐसी आज्ञा नहीं है कि जैनागमके अनुकूल मार्गपर चलनेवाले और जैनाभास मार्गपर चलनेवालोंको एक समझलो। या सबको सत्यमार्गका अनुयायी मान लो। या दोनों प्रकारके मार्गोंको नवीन प्रकारसे छांट कांटकर एक रूप गडलो। मोक्षमार्गके स्वरूपमें सहज ही व्यतिक्रम करनेसे उस पदार्थका सत्य स्वरूप लोप हो जाता है इसलिये वहांपर सत्य मार्गका भी लोप हो जाता है।

उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शन—तीर्थंकर, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती आदि पुण्य पुरुषोंके चरित्र सुननेसे जो आत्माके परिणाम विशुद्ध होते हैं, उसको उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पवित्र जैन धर्मको धारणकर नोला, सांप, तोते और मेढक आदि क्षुद्र जीव ऐसे उत्तम पदको और सर्व प्रकारके सुखको प्राप्त हुए। ऐसे उपदेशसे जो भव्य जीव जैनधर्मको सत्य धर्म मान जैनधर्मको ग्रहण करता है वह उपदेशोद्भव सम्यग्दर्शनका धारण करनेवाला है। इसी प्रकार तीर्थंकरके पंचकल्याणोंकी महिमा, चक्रवर्तीके विभवकी महिमा आदिको सुनकर जो सम्यग्दृष्टी होता है वह उपदेशोद्भव सम्यग्दृष्टी है।

मुनि और श्रावकके आचार-शास्त्रोंको सुनकर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो वह सूत्र सम्यग्दर्शन है।

जैन धर्मकी महत्वता उस धर्ममें प्रतिपादित मुनि आचरणोंकी पवित्रतासे होती है। अन्य मत और जैनमतके बाह्य स्वरूपमें यदि भेद है तो मात्र एक आचरणोंका ही है। इन आचरणोंके प्रभावसे जैन धर्म सबसे उत्कृष्ट धर्म है ऐसा बोध होता है। अहिंसाका वर्णन जैसा जैनधर्ममें है वैसा अन्य धर्मोंमें सर्वथा नहीं है। इससे लोगोंको यह विश्वास होता है कि जीवोंकी दया पालन करनेवाला धर्म है तो एक मात्र जैन धर्म है। इस प्रकार विश्वासकर जो मनुष्य जैन धर्मको स्वीकार करता है वह सूत्र सम्यग्दर्शनका धारी है।

जलगालन, रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष भक्षण त्याग और

शुद्ध भोजन पान आदि आचरणोंसे भी धर्मकी महिमा अद्भुत होती है । कभी २ तो ऐसे व्यवहारके आचरणोंसे धर्मकी परीक्षा होकर जगतमान्य पवित्रता प्रकट होती है । इसका कारण एक यह भी है कि व्यवहारके आचरणोंकी पवित्रतासे आत्माके परिणाम बडे पवित्र हो जाते हैं जिसकी छाप अन्य धर्मपर अवश्य होती है । इसी प्रकार हिंसादि पापकर्मोंके परित्यागकी छाप भी अन्य धर्मपर अवश्य ही पडती है ।

मुनिवरको घोर परीषहका विजयी देखकर कितने ही जीव सम्यग्दृष्टी हुए हैं । मुनीश्वरोंके निस्पृह चारित्रको देखकर कितने मनुष्य सम्यग्दृष्टी हुए हैं ।

मुनीश्वरके समतारूप चारित्रको देखकर श्रेणिक महाराज सम्यग्दृष्टी हुआ । मुनीश्वरको शीत समय भी ध्यानस्थ देखकर ग्वालिया सम्यग्दृष्टी हुआ । अनेक मनुष्य मुनि और गृहस्थोंके पवित्र आचरणोंको देखकर सम्यग्दृष्टी हुए । इसलिये अपने आचरण सदैव पवित्र रखना चाहिये ।

जो भव्यजीव देव, शास्त्र, गुरु और तत्वोंके स्वरूपकी गाढ श्रद्धा करता है वह समस्त आगमका वेत्ता होता है । इस प्रकारके फलको सुनकर जो सम्यग्दर्शन धारण करता है वह बीज सम्यग्दर्शनका धारण करनेवाला है अथवा कार्माण वर्गणा और आत्माके परिणामोंका स्थिति आदिके बीजगणितसे पदार्थोंको निश्चयकर श्रद्धान करना सो बीज सम्यग्दर्शन है । अथवा कर्म और आत्माके स्वरूपको पृथक् २ सुनकर कर्मसे आत्मा भिन्न है, ऐसा विश्वास करना सो बीज सम्यग्दर्शन है ।

संसारी जीव अज्ञानतासे कर्मोंके स्वरूपको यथावत नहीं
नते हैं। इस लिये वे कर्मसे आच्छादित आत्माको जडरूप
नते हैं। कर्म और आत्मामें भेद नहीं मानते हैं। इस प्रकार
त्मस्वरूपको भूले हुए जीवोंको कर्मोंका स्वरूप सुननेसे आत्म-
व होता है। अथवा सम्यग्दर्शनादिकके फलको सुनकर सम्यग्द-
नको धारण करना सो भी बीज सम्यग्दर्शन है।

संक्षेपार्थोद्भव सम्यग्दर्शन—पदार्थोंके संक्षेप स्वरू-
को सुनकर श्रद्धान करना सो संक्षेपार्थोद्भव नामका सम्यग्दर्शन
। यह सम्यग्दर्शन महान पुण्यात्माको होता है। विद्यानंदी
ामी आदि भव्यजीवोंको यह सम्यग्दर्शन हुआ है।

द्वादशांगवाणीके समस्त विस्तारको सुनकर जो भव्यजीव
म्यग्दर्शनको प्राप्त हो वह **विस्तारार्थोद्भव सम्यग्दर्शन है।**

अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन—आगमको पढ़कर अपने आप
पदार्थोंका निश्चयरूप श्रद्धान हो वह अर्थोद्भव सम्यग्दर्शन है।
ह सम्यग्दर्शन स्वप्रत्यय होता है।

अवगाढ—अंग और अंगबाह्यादि समस्त शास्त्रोंके ज्ञान-
से आत्मामें अत्यन्त दृढतारूप जो पुनः चलायमान न हो ऐसे
म्यग्दर्शनका होना सो अवगाढ सम्यग्दर्शन है।

परमावगाढ—जो केवलज्ञानी या अवधिज्ञानी या मनःपर्य-
ज्ञानी मुनीवर समीप अपने भवभवांतरोंको सुनकर अथवा केव-
ज्ञानीका सातिशय प्रभाव देखकर जो अपनी आत्माका स्वयं
विश्वास हो जाय, पदार्थोंकी श्रद्धा स्वयं हो जाय, आत्माका अनु-
व हो जाय वह परमावगाढ नामका सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति "निसर्ग और अधिगमके भेद" से दो प्रकार है। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें बाह्य प्रयत्नोंकी अधिक अपेक्षा नहीं रहती है, परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शनमें बाह्य साधनोंकी विशेष अपेक्षा होती है।

दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनमें पदार्थोंके बोधकी आवश्यकता होती ही है। निसर्ग सम्यग्दर्शनमें काललब्धि आदि कारणकलापोंकी आवश्यकता है ही। इसी प्रकार पदार्थोंके स्वरूपके अवगम करनेकी भी आवश्यकता है। परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शनके समान बाह्य प्रयत्नोंकी विशेषताकी अधिक आवश्यकता नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण उपस्थित होनेसे जो सम्यग्दर्शन बाह्य कारणोंकी विशेष अपेक्षा न रखकर उत्पन्न हो वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। और अंतरंग कारणकी उपस्थिति होनेपर जो बाह्य कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न हो वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

निसर्ग और अधिगम सम्यग्दर्शनमें यह भी भेद है कि निसर्ग सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर विरुद्ध कारणकलापोंके मिलने पर छूट भी जाता है। परन्तु अधिगम सम्यग्दर्शन प्रमाण, नय, निक्षेप आदिसे तत्वकी पूर्ण परीक्षाकर दृढ निश्चयात्मकरूप होता है, संदेहादि दोषोंसे सर्वथा रहित होता है और फिर नष्ट नहीं होता है, अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है, आत्मबोधसे पतित नहीं होता है, केवलज्ञानको प्रकट किये विना नहीं रहता है।

सम्यग्दर्शनके ऊपर भेद संक्षेपसे कहे हैं। सम्यग्दर्शनके उक्त भेद समुदाय रूपसे हैं। यदि भिन्न २ जीवोंकी अपेक्षा

सम्यग्दर्शनके भेदोंका वर्णन किया जाय तो बहुतसे भेद हो जांयगे। क्योंकि जीवोंकी परिणति सबकी एक रूप नहीं होती हैं। परिणतिमें भेद होनेसे सम्यग्दर्शनमें भी भेद होजाता है।

सम्यग्दर्शनके निःशंकादिक ३२ गुण जो ऊपर वर्णन किये हैं वे गुण सम्यग्दर्शनके नाश होनेसे दोषरूप परिणत होजाते हैं। और सम्यग्दर्शनके २५ दोष मिथ्यात्वके नाश होनेपर गुणरूप परिणत होजाते हैं। जिन जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व रूप हैं उनमें सम्यग्दर्शनके गुण प्रकट नहीं होते है। और जिन जीवोंके परिणाम सम्यग्दर्शनमय है उनमें सम्यग्दर्शनके दोष प्रकट नहीं होते हैं। अथवा यह जीव जिस समय अपनी आत्मासे सम्यग्दर्शनके दोषोंका परित्याग गुणोंको धारण करता है उस समय उसके सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है।

जिससमय जीव मिथ्यात्व भावमें परिणत होता है उस समय उसको निःशंकादि गुणोंसे प्रेम होता ही नहीं है। भले ही वह अपनेको जैन धर्मका अनुयायी मानकर व्यवहार सम्यग्दर्शनके धारण करनेका अपनेको पात्र समझता है परन्तु उसकी अभिरुचि दोषोंकी तरफ ही होती है। वह निर्मल आगममें दोषोंको देखता है, सच्चे गुरुओंमें दोषोंका अस्तित्व समझता है, अरहंत भगवानको सर्वज्ञ न समझकर एक प्रखर वक्ता समझता है। इत्यादि प्रकारसे उसके परिणाम मिथ्यात्व रूप ही रहते हैं। वह आत्मामें अभिन्न प्रकारसे रुचि करता है।

आत्मपरिणतिके विभिन्न प्रकारके परिणमन होनेसे दोष रूप परिणमन हो जाते हैं और गुण दोष रूप परिणमन होजाते

हैं। इसलिये भव्य पुरुषोंको अपने विचार सदैव निर्मल रखना चाहिये, अपने परिणामोंसे विपरीत श्रद्धान नहीं करना चाहिये। और जिन कार्योंसे दोषोंकी उत्पत्ति हो ऐसे कारणोंको नहीं उत्पन्न करने चाहिये। अपने विचार निःशंकादि गुणोंकी तरफ ही होने चाहिये। अपनी भावना भी गुण रूप होनी चाहिये। अपना बाह्य आचरण भी गुणोंके अनुकूल हो ऐसा रखना चाहिये। बाह्य और अभ्यंतर आचरण गुणोंके अनुसरण करनेवाले हो तो गुणोंकी वृद्धि होती है। और जो बाह्य आभ्यंतर आचरण दोष रूप हों तो सम्यग्दर्शन छूटकर मिथ्यात्व रूप होजाता है।

हे भव्यजीव! दोषोंका परित्याग करो। और गुणोंका ग्रहण करो। दोषोंके परित्याग किये विना सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होगा और गुणोंको ग्रहण किये सम्यग्दर्शन संसारको नाश करनेवाला नहीं होगा। इस लिये अपने आचरण, अपने विचार और अपने परिणाम गुणोंके ग्रहण करनेमें लगाओ और दोषोंका परित्याग करो।

जो भव्यजीव दोषरहित और गुणसहित सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह तीन जगतकी मनोहर लक्ष्मीको प्राप्त होता है, कर्मोंका नाशकर अविनाशी पदको प्राप्त होता है।

यदि एकवार भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई तो यह जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे पट् नरकोंमें नहीं जाता है, भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न नहीं होता है, तिर्यंच नहीं होता है, स्त्री पर्याय धारण नहीं करता है और न नपुंसक, नीच कुल दरिद्रता, अल्पायु आदि दुःखोंके कारणोंमें उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शनका माहात्म्य सर्वोपरि है। जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गई वह

देवेन्द्रोंसे पूजित होकर मोक्षको प्राप्त करता है। ऐसा कोई संसारमें कार्य नहीं है जो सम्यग्दर्शनके प्रसादसे सिद्ध न हो। समस्त प्रकारके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और सब प्रकारके सुख प्राप्त हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवको जब मोक्षकी प्राप्ति सरल है तब इतर संसारके तुच्छ सुख क्यों नहीं प्राप्त हों? वह चक्रवर्ती, तीर्थंकर और देवेन्द्र आदिके उत्तम पदोंको प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टी पुरुषोंकी राजा सेवा करते हैं, स्वर्गकी लक्ष्मी उसकी सेवा करती है, समस्त गुणोंकी वृद्धि उसको प्राप्त होती है, समस्त प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और वह कर्मोंको नाशकर शीघ्र ही संसारसमुद्रके पार है इसलिये अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल करो।

सम्यग्दर्शन सहित नीच पुरुष भी देवोंसे पूजा जाता है और गुणोंका स्वामी होता है। परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह ऊच पुरुष होनेपर भी सबसे नीच होजाता है। गुणभूषण होनेपर भी दोषोंका पात्र होजाता है।

इति श्रीमद्गुणभूषणाचार्य विरचिते भव्यजनचित्तवल्लभाभिधान-श्रावकाचार साधु नेमिदेवनामाङ्किते सम्यक्त्ववर्णनं प्रथमोद्देशः॥